Chapter-1

अध्याय : एक

:: विषय-प्रवेश ::

:: अध्याय : एक ::

:: विषयप्रवेश ::

हिन्दी के कथा-साहित्य में प्रेमचन्द का स्थान मेरूदण्ड के समान है । हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में जिसे छायावाद कहा गया है, उसे ही कथा-साहित्य के क्षेत्र में "प्रेमचन्द-युग" कहा गया है । बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के पश्चात् प्रेमचन्द ही वे तीसरे महान साहित्यकार हैं, जिनके नाम से हिन्दी साहित्य के इतिहास के किसी काल-खण्ड को अभिहित किया गया हो । भारतेन्दु बाबू अतुल संपत्ति के स्वामी थे और द्विवेदीजी के साथ एक संस्था की शक्ति जुड़ी हुई थी । आर्थिक तंगदस्ती में भी अकेले जूझने वाले तो प्रेमचन्द ही थे । प्रेमचन्द के पूर्व भी कथा-साहित्य — कहानी और उपन्यास — उपलब्ध तो होता है ; परन्तु उसमें स्थूलता, कथावस्तु की प्रधानता, एकांगिता, अतिशय भावुकता प्रभृति दृष्टिगत होते हैं । प्रेमचन्द उसे एक मुकम्मिल परिपक्वता देते हैं । प्रेमचन्द के पूर्व कथा-साहित्य में जो पात्र मिलते हैं

वे प्रायः "सु" और "कु" के विभाजन में मिलते हैं । अच्छे पात्र निहायत अच्छे और बुरे पात्र निहायत बुरे दिखाये जाते थे ।

मनुष्य का चरित्र बहुत जटिल होता है , उसे इतनी आसानी से अलग-अलग खानों में आबंटित नहीं कर सकते । वस्तुतः मनुष्य अच्छाइयों और बुराइयों का पुलिन्दा है । इस प्रकार का मनुष्य — "सु" और "कु" से समन्वित मनुष्य — हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम प्रेमचन्द के यहां मिलता है । डा. एस. एन. गणेशन के शब्दों में प्रेमचन्द के द्वारा हमें मानव-चरित्र की पहचान प्राप्त होती है ।[1]

अतः यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द के कारण हिन्दी कथा-साहित्य में परिपक्वता , सूक्ष्मता , चरित्रगत मनोवैज्ञानिकता आदि का स सन्निवेश हुआ । एकांगिता के स्थान पर सर्वांगिता दृष्टिगत होने लगती है । स्थूल कथात्मकता के स्थान पर कलात्मक सूक्ष्म चरित्रांकन अस्तित्व में आता है । भावुकता का स्थान यथार्थता लेने लगती है । प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी उपन्यासों का अनुवाद अन्य भाषाओं में नहीं होता था । प्रेमचन्द ने उसे वह गरिमा प्रदान की कि उनके पश्चात् हिन्दी उपन्यासों का अनुवाद अन्य भाषाओं में भी होने लगा ।[2]

प्रेमचन्द ने न केवल लिखा बल्कि अपने समय के अनेक लेखकों का पथ-प्रदर्शन करते हुए , उन्हें प्रोत्साहित करते हुए , उन्हें लिखने के लिए प्रेरित भी किया । जैनेन्द्र , अज्ञेय , इलाचन्द्र जोशी , पहाड़ी , फिराक गोरखपुरी (रघुपति सहाय) , गंगाप्रसाद मिश्र , उपेन्द्रनाथ अश्क , राधाकृष्ण, जनार्दन नागर , जनार्दन झा "द्विज" , वीरेश्वर मिश्र , वीरेन्द्रकुमार जैन जैसे अनेक लेखकों को बनाने का श्रेय प्रेमचन्द को जाता है ।[3]

प्रेमचन्द के पूर्व भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र तथा पं. महावीर प्रसाद द्विवेदीजी ने भी लेखकों या कवियों की एक समूची पीढ़ी को तैयार करनेका भगीरथ कार्य संपन्न किया था ; किन्तु यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि

बाबू भारतेन्दु अतुल संपत्ति के मालिक थे और द्विवेजी के पास हिन्दी की एक प्रतिष्ठित पत्रिका का बल था । प्रेमचन्द के पास इन दोनों का अभाव था । भारतेन्दु मंडल की भांति लेखकों का एक मंडल तैयार करने के लिए "हंस" और "जागरण" जैसी पत्रिकाओं को चलाया , जिसके कारण वे ऋण के बोझ के नीचे दब गये । अर्थाभाव में पत्रिकाओं को चलाना कितना दुःसाध्य कर्म है , यह तो प्रेमचन्द , शैलेश मटियानी या राजेन्द्र यादव जैसे कुछ भुक्तभोगी ही बता सकते हैं । एक कलमजीवी लेखक को उसके लिए कितना जूझना पड़ता होगा उसकी तो केवल कल्पना ही कर सकते हैं ।

साहित्य के प्रति प्रेमचन्द की प्रतिश्रुतता अभूतपूर्व है । साहित्य और केवल साहित्य का चिंतन प्रेमचन्द को काम्य था । अपने मृत्यु से एक दिन पूर्व जैनेन्द्रकुमार से जो बात हुई उसमें भी वे जैनेन्द्रजी से आदर्श और यथार्थ को लेकर विचार-विमर्श कर रहे थे ।[4] प्रेमचन्दजी की आर्थिक दुरावस्था के कारण सन् 1936 में हंस का संपादन भार भारतीय साहित्य परिषद ने ले लिया था । उन दिनों सेठ गोविन्ददास का एक नाटक -- "स्वातंत्र्य-सिद्धान्त " -- "हंस" में प्रकाशित हुआ था , जिसके कारण "हंस" ब्रिटीश शासकीय मशीनरी का कोपभाजन हुआ और उससे एक हजार रूपये की जमानत माँगी गयी । भारतीय साहित्य परिषद इस अर्थ-व्यय को उठाने के पक्ष में नहीं थी , फलतः उसने पत्र को ही बन्द कर दिया । इसका पता चलते ही प्रेमचन्दजी आग बबुला हो गये और अपनी पत्नी शिवरानीदेवी से कहने लगे -- " `हंस ` तो मेरा तीसरा बेटा है । रानी , तुम `हंस ` की जमानत भर दो । चाहे मैं रहूं या न रहूं , `हंस` चलेगा । यदि मैं ज़िन्दा रहा तो सब प्रबन्ध कर लूंगा और यदि मैं चल दिया तो यह मेरी यादगार रहेगी । "[5]

इस घटना से प्रेमचन्दजी की साहित्यिक प्रतिश्रुतता स्वतः प्रमाणित होती है । प्रेमचन्द की इस प्रतिश्रुतता का एक अन्य ज्वलन्त उदाहरण भी मिलता है । "हंस" और "जागरण" के कारण प्रेमचन्दजी पर

काफी कर्ज़ चढ़ गया था । अतः और कोई उपाय न सूझने पर उन्होंने मोह-मयी मायानगरी --- चित्रनगरी बम्बई की राह ली । उर्दू जबान पर प्रेम-चन्दजी का जो काबू था उसके कारण उन्हें अजंटा मूवीटोन में काम मिल जाता है । फिल्मों की पटकथा तथा संवाद लिखने के कार्य से उन दिनों उन्हें महीने के एक हजार मिल जाते थे । कोई दूसरा व्यक्ति होता तो वहीं टिक जाता , परन्तु प्रेमचन्द तो जैसे ही कर्ज पूरा हुआ बम्बई को अलविदा करके बनारस जा पहुँचे ।[6]

बम्बई का फिल्मी परिवेश साहित्य-सृष्टि के अनुकूल नहीं था । प्रेमचन्द चाहते तो लाखों रूपये कमा सकते थे और जैसा कि अमृतराय लिखते हैं " अपने नामके झण्डे भी गाड़ देते "[7] , परन्तु तब प्रेमचन्द "गोदान" , "कफ़न" , " शतरंज के खिलाड़ी " जैसी रचनाएं नहीं दे पाते जिनके कारण प्रेमचन्द प्रेमचन्द हैं । मेरे मार्गदर्शक डा. देसाईजी का एक शेर है ---

" कंचन और कामिनी "कश्विरा" पा सकते हो तुम भी
पर रह जाओगे कोरे गर लक्ष्मी का वरण होगा । "[8]

साहित्य की इस प्रतिश्रुतता के कारण ही प्रेमचन्द की तुलना महान रूसी साहित्यकार गोर्की के साथ की जाती है ।[9] अलवर के महाराजा ने भी प्रेमचन्द को अपने यहाँ आकर साहित्य-सर्जन करने का आमंत्रण दिया था , जिसका प्रेमचन्दजी ने नम्रतापूर्वक अस्वीकार किया । इससे सिद्ध होता है कि प्रेमचन्दजी लक्ष्मी के नहीं सरस्वती के पूजक थे , क्योंकि राजासाहब ने 400 रूपया प्रतिमास नकद ,[10] मोटर , बंगला आदि सबकुछ देने को लिखा था और उन्हें सपरिवार बुलाया था । उस राजा साहब को उन्होंने एक पत्र में लिखा ---

" मैं आपको धन्यवाद देता हूं कि आपने मुझे याद किया । मैंने अपना जीवन साहित्य-सेवा के लिए लगा दिया है । मैं जो कुछ लिखता हूं उसे आप पढ़ते हैं , इसके लिए आपको धन्यवाद देता हूं । आप जो पद मुझे दे रहे हैं , मैं उसके योग्य नहीं हूं । मैं इसी में ही अपना सौभाग्य समझता

हूँ कि आप मेरे लिखे को ध्यान से पढ़ते हैं । अगर हो सका तो आपके दर्शन के लिए कभी आऊंगा ।

एक साहित्यसेवी ,
धनपतराय " 11

यह ध्यातव्य है कि प्रेमचन्द जिस सामन्तकालीन परिवेश की शोषण-लीला को बेपर्द कर रहे थे , उसका वैसा चित्रण तब कैसे संभव होता यदि उन्होंने राजा साहब के प्रस्ताव को स्वीकार लिया होता । लगता है प्रेमचन्दजी महाभारतकालीन भीष्म की विवशता को भलीभांति पहचानते थे ।

युग निर्माता प्रेमचन्द :
===============

हिन्दी जगत में प्रेमचन्द का प्रवेश सन् 1918 से "सेवासदन" के प्रकाशन के साथ माना जाता है । सन् 1936 में प्रेमचन्दजी की मृत्यु होती है । 18 वर्षों के इस अल्प समय में उन्होंने हिन्दी के लिए जो किया है उसे अभूतपूर्व कहा जायेगा । इन 18 वर्षों में प्रेमचन्द ने "वरदान" , "सेवा-सदन" , "प्रतिज्ञा" , "गबन" , "निर्मला" , "कायाकल्प" , "प्रेमाश्रम" , "कर्मभूमि" , "रंगभूमि" , "गोदान" , "मंगलसूत्र" (अपूर्ण) जैसे दस-ग्यारह उपन्यास तथा गालिबन दो सौ ढाई-सौ कहानियां दी हैं । वैसे तो इतना साहित्य पर्याप्त समझा जाना चाहिए । परंतु हिन्दी में तो बाबू गोपाल-राम गहमरी , किशोरीलाल गोस्वामी जैसे अनेक उपन्यासकार हुए हैं , जिन्होंने उपन्यासों का ढेर लगा दिया है । तो फिर क्या कारण है कि प्रेमचन्द को इतना महत्व दिया जा रहा है , केवल इतने से उपन्यासों के आधार पर उन्हें "उपन्यास-सम्राट" का बिरूद दिया गया है । महान रूसी कथाकार गोर्की से उनकी तुलना की जा रही है , यहां तक कि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर उन्हें हिन्दी को मिले हुए एक अनुपम-अनमोल हीरे की उपमा देते हैं ।[12] तो इससे यही प्रमाणित होता है कि साहित्य में परिमाण का नहीं अपितु गुणवत्ता का महत्व अपरिहार्य होता है ।

प्रेमचन्द ने और कुछ न लिखा होता और केवल "निर्मला" , "रंगभूमि" , "गोदान" जैसे कुछ उपन्यास और "कफ़न" , "ठाकुर का कुआँ" , " पूस की रात" , "ईदगाह" , " शतरंज के खिलाड़ी" , "नमक का दारोगा" , "बड़े घर की बेटी" , "सद्गति" , "दो बैलों की कथा " जैसी कुछ कहानियां ही लिखीं होतीं ; तो भी प्रेमचन्द का स्थान हिन्दी कथा-साहित्य की अग्रिम पंक्ति में होता । नवीनता के व्यामोह में अंट-संट बकनेवाले कुछ लोगों ने प्रेमचन्दजी की प्रासंगिकता को लेकर प्रश्न उठाया था , तब प्रेमचन्द का पक्ष लेते हुए नवीनों में भी नवीन ऐसे श्री अज्ञेयजीने कहा था कि जब तक हम प्रेमचन्द-सी मानवीय-संवेदना अपनी रचनाओं में नहीं ला पाते तब तक प्रेमचन्द पुराने होते हुए भी हम नवीनों का मार्ग-दर्शन करते रहेंगे ।[13]

वस्तुतः कोई भी कलाकार जो लोकधर्मी होता है , कभी प्रासंगिक नहीं हो सकता । एक बार अपने पर किए गए आरोप को लेकर प्रेमचंद ने उसका मुंहतोड़ जवाब दिया था । श्री अवध उपाध्याय नामक एक सज्जन ने प्रेमचन्द पर साहित्यिक चोरी का आरोप लगाते हुए उनके "रंगभूमि" तथा "प्रेमाश्रम" को क्रमशः "वेनिटी फेर" {थैकरे} तथा "रिजरेक्शन" {टालस्टाय} की नकल घोषित किया तब प्रेमचन्द ने बड़े सशक्त शब्दों में लिखा था — " लेख के भाव-भाषा और शैली से विदित होता है कि किसी स्कूली लड़के ने लिखा है जिसने मेरी कोई भी रचना पढ़ी ही नहीं, उनसे मेरा आग्रह है कि कृपया एक बार धैर्य रखकर "रंगभूमि" पढ़ जाइए । जिसने "वैनिटी फेर " और "रंगभमि " पढ़ा है , वह कभी ऐसी बेतुकी बातें नहीं लिख सकता । " वैनिटी फेर " आसमान पर हो और "रंगभूमि" जमीन पर , पर है वह रंगभूमि । रहा प्रेमाश्रम पर रिजरेक्शन का प्रभाव । इसके विषय में यही कहना है कि अभी मैंने रिज़रेक्शन नहीं पढ़ा है और अगर बिना पढ़े ही प्रेमाश्रम में रिज़रेक्शन के भाव आ गए हैं तो यह मेरे लिए गौरव की बात है । अभी ज़िन्दा रहा तो बहुत

कुछ लिखूंगा और मेरे भावों और विचारों में उच्च कोटि के लेखकों जैसी बहुत-सी बातें आवेंगी । आप जो अच्छी पुस्तक देखेंगे वही मेरी किसी पुस्तक से मिलती-जुलती जान पड़ेगी । कारण यही है कि मैं अपने प्लॉट जीवन से लेता हूं, पुस्तकों से नहीं , और जीवन सारे संसार में एक है । " [14]

मृत्यु के एक दिन पूर्व जैनेन्द्र से उनकी भेंट हुई थी । उस समय उन दोनों में जो वार्तालाप हुआ उसमें उपन्यास के भविष्यत् विकास मेंx के परिप्रेक्ष्य में यथार्थवाद की क्या भूमिका रहेगी , इस पर प्रेमचन्द चर्चा करते हैं और जैनेन्द्रजी को परामर्श देते हैं कि हिन्दी उपन्यास का विकास आगे चलकर यथार्थवादी धारा को लेकर होगा । इस प्रकार हम देखते हैं कि यह व्यक्ति साहित्य के लिए निरंतर चिंतनशील रहा है । और इतना ही नहीं परन्तु अपने समकालीनों से निरंतर साहित्य-चिंता करता रहा है ।[15] अपने युग के अनेक नवोदितों को प्रेमचन्द ने आवश्यक मार्गदर्शन भी दिया है । 23 मार्च सन् 1912 ई. में अश्कजी पर लिखा गया उनका यह पत्र इस तथ्य की पुष्टि करता है — " पढ़ने के लिए लाइब्रेरी से मनोविज्ञान की कोई किताब ले लो , स्कूली कोर्स की किताब नहीं , अभी एक किताब निकली है , § द आस्पेक्ट्स आफ नावेल § इस विषय पर अच्छी पुस्तक है । मतलब सिर्फ यह कि इन्सान उदार विचारों xxxxx वाला हो जाय , उसकी संवेदनाएं व्यापक हो जाएं । डा. टैगोर के साहित्यिक और दार्शनिक निबंध बहुत ही अव्वल दर्जे के हैं । रोमां रोलां का ' विवेकानंद ' जरूर पढ़ो । उनकी ' गांधी ' भी पढ़ने के काबिल है । मारले के साहित्यिक निबंध लाजवाब है । डा. राधाकृष्णन् की दर्शन संबंधी किताबें टाल्सटोय का ' वाट इज़ आर्ट ' वगैरह किताबें जरूर देखनी चाहिए । " [16]

इस प्रकार आर्थिक हानि उठाने पर भी उन्होंने हिन्दी साहित्य एवं उसके साहित्यकारों को प्रोत्साहित किया । उन्होंने न केवल लिखा , बल्कि एक समूची पीढ़ी को तैयार किया जिसने आगे चलकर हिन्दी कथा-साहित्य को विकसित एवं परिवर्द्धित किया । प्रेमचन्द के अनुकरण पर

समस्यामूलक कथा-साहित्य लिखनेवाले लेखकों का एक वर्ग तैयार हुआ , जिसे हम प्रेमचन्द-स्कूल के कथाकार कह सकते हैं । प्रतापनारायण श्रीवास्तव , सियारामशरण गुप्त , उपेन्द्रनाथ अश्क ,भगवतीचरण वर्मा , अमृतलाल नागर , हिमांशु श्रीवास्तव , अमृतराय , डा॰ रामदरश मिश्र , डा॰ शिवप्रसादसिंह , नागार्जुन , फणिश्वरनाथ रेणु , जगदीशचन्द्र प्रभृति परवर्ती उपन्यासकारों एवं कहानीकारों को ऊपर निर्देशित प्रेमचन्दीय संस्कारों का परिमार्जन सुलभ हुआ है , ऐसा कहा जा सकता है । अतः प्रेमचन्द को जो "युगनिर्माता" कहा गया है , वह सर्वथा उपयुक्त है । ।

युगीन परिवेश :

प्रस्तुत प्रबंध में प्रेमचन्द के कथा-साहित्य का अध्ययन एक विशेष दृष्टिकोण से किया जायेगा । अतः प्रेमचन्द के समय के युगीन परिवेश को समझ लेना भी आवश्यक हो जाता है , क्योंकि व्यक्ति , समाज या देश जिन संघर्षों से गुजरते हैं वे संघर्ष उस युग के परिवेश की निपज हुआ करते हैं । व्यक्ति कैसा भी हो , सामान्य या महान , युगीन प्रभावों से वह नितांत निर्लिप्त नहीं रह सकता और उपन्यास को तो समाज के संघर्षपूर्ण अस्तित्व की व्याख्या ही कहा गया है ।[17] अतः प्रेमचन्द-युग — सन् 1918 से सन् 1936 — की विभिन्न परिस्थितियों पर संक्षेप में विचार कर लेना उपयुक्त रहेगा । प्रथम विश्वयुद्ध सन् 1914 में प्रारंभ हुआ था और सन् 1919 तक में समाप्त हो चुका था । उस समय भारत अंग्रेजों के अधीन था । अतः युद्ध जीतने के लिए अंग्रेजों ने भारत की शक्ति को भी काम पर लगाया था । इसका बड़ा आर्थिक कुप्रभाव भारत पर पड़ा था । तथापि युद्ध की समाप्ति पर अंग्रेजों ने भारत के हित-अहित की परवाह न करके सन् 1919 में रोलेट एक्ट पास किया , जिसे भारतीय इतिहास में "काला कानून" के नाम से जाना जाता है, और जिसने भारतीयों के रहे-सहे अधिकार भी छिन लिये । इसका देश भर के नेताओं ने विरोध किया । देश में एक आंधी-सी उठ पड़ी । 13 अप्रैल 1919 के दिन पंजाब के अमृतसर नामक शहर में जलियांवाला बाग में

जनरल डायर ने निहत्थे लोगों पर हजारों गोलियों की वर्षा की । इस घटना ने अंग्रेजों की नृशंसता को परम सीमा पर पहुँचा दिया । दुनिया-भर की राजनीतिक सत्ताओं ने इस घटना की बड़ी भर्त्सना की ।[18]

भारतीय राजनीति में गांधीजी का आविर्भाव इस काल की एक शकवर्ती घटना है । महात्मा गांधी और मुंशी प्रेमचन्द उभय का क्रमशः भारतीय राजनीति और हिन्दी साहित्य में प्रवेश अनेक दृष्टियों से समानता रखता है । दोनों करीब-करीब एक ही साथआते हैं । गांधीजी कांग्रेस को तो मुंशीजी हिन्दी कथा-साहित्य को बहुआयामी बनाते हुए उसे विस्तृत फलक देते हैं । दोनों की दृष्टि मानवतावादी थी । दोनों ने भारत की उन्नति को गांवों की उन्नति में देखा । स्त्री एवं दलित कृषक वर्ग के उत्सर्ग के लिए दोनों ने जीवनभर भरसक प्रयत्न किए । दोनों हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रखर हिमायती थे । आश्चर्य की बात तो यह है कि प्रेमचन्द की हिन्दी ही गांधी की हिन्दुस्तानी थी । यह स्मरणीय रहे कि अरबी, फारसी तथा संस्कृत की शब्दावली से युक्त एक सामान्य भाषा का निर्माण गांधीजी चाहते थे जो आम-फहम की भाषा हो सकती थी । प्रेमचन्द की भाषा भी उसी प्रकार की है । गांधीजी भारतीय समाज के चौमुखी विकास के लिए प्रयत्नशील थे, प्रेमचन्दजी हिन्दी साहित्य के चौमुखी विकास की अभीप्सा रखते थे । और अपने इन आदर्शों की प्राप्ति हेतु दोनों ने वैयक्तिक सुखों का त्याग किया था । गांधीजी की भांति प्रेमचन्दजी भी "सिम्पल लिविंग एण्ड हाई थिंकिंग " में मानते थे । अतः दोनों का जीवन त्याग, तपश्चर्या एवं साधना का एक अद्वितीय उदाहरण पेश करता है । यहां हम डा. सुरेश सिंहा के इस मत से पूर्णतया सहमत हैं कि प्रेमचन्द और गांधी दोनों ही समानार्थक शब्द माने जाते हैं । एक उन्हीं धारणाओं की अभिव्यक्ति राजनीति के क्षेत्र में करता है, दूसरा साहित्य में । सामाजिक विषमताओं और यंत्रणाओं में घुटकर प्रेमचन्दजी की मृत्यु हुई तो गांधीजी की हत्या सामाजिक विषमताओं एवं धार्मिक मदान्धता के कारण हुई ।[19]

भारतीय राजनीति में सक्रिय प्रवेश के पूर्व गांधीजी दक्षिण अफ्रिका में अपने अहिंसात्मक सत्याग्रह की सफलता और सच्चाई पा चुके थे । अतः सन् 1915 में उन्होंने अहमदाबाद में साबरमती नदी के किनारे सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की । गोपालकृष्ण गोखले और लोकमान्य तिलक उनके राजकीय गुरु थे । सन् 1920 में तिलक की मृत्यु हो जाने के कारण कांग्रेस की बागडोर गांधीजी के हाथों में आयी । भारत की राजनीतिक क्षितिज पर गांधीजी के उदय होने के पूर्व कांग्रेस का कार्य मात्र नम्र निवेदनों और विरोधपत्रों तक सीमित था । राजनीतिक दृष्टि से भारत की आजादी ही उनका एक मात्र लक्ष्य था, परंतु गांधीजी केवल राजनीतिक आजादी के ही पक्षधर नहीं थे । वे इसके साथ सामाजिक आजादी और सामाजिक न्याय के भी पक्षधर थे । अतः उन्होंने भारतीय समाज के चौमुखी विकास के लिए अनेक कार्यक्रम दिए । इस प्रकार महात्मा गांधी के कारण भारतीय कांग्रेस में अद्भुत परिवर्तन आया । एक प्रकार से उन्होंने कांग्रेस की कायापलट कर दी । देश के इतिहास में पहली बार देश के दिमाग ॥ शिक्षित वर्ग ॥ और दिल ॥ विराट जनता॥ का अभूतपूर्व मिलन हुआ । उन्होंने कांग्रेस को विस्तृत धरातल पर लाकर रख दिया और उसे एक बहुआयामी स्वरूप प्रदान किया । स्वाधीनता के साथ-साथ ग्रामसुधार, ग्रामोद्योग, भारतीय समाज का पुनरुत्थान, स्वदेशी कापड़ तथा चीज-वस्तुओं का प्रचार, विदेशी कपड़ों और चीज-वस्तुओं का बहिष्कार, खादी का प्रचार, शराबबंदी, हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रयास, अछूतोद्धार, राष्ट्रीय शिक्षा, नारी-शिक्षा, राष्ट्रभाषा का प्रचार आदि भारतीय जीवन के अनेक प्राणप्रश्नों को उन्होंने प्रतिष्ठित किया जिसके कारण समूचे देश में एक नवीन चेतना का आविर्भाव हुआ । सत्य और अहिंसा को हथियार बनाया गया । असहयोग और सत्याग्रह के आंदोलन ने देश के समूचे वातावरण को बदल दिया मानो सहस्त्राधिक वर्षों से सोयी हुई भारत की आत्मा जाग उठी हो । जीवन के हर क्षेत्र में राष्ट्रीयता की लहरें तरंगायित होने लगीं । प्यार और बलिदान

की स्पर्द्धा होने लगी ।

इस अ अहिंसात्मक स्वाधीनता-संग्राम के समानांतर क्रांतिकारी प्रवृत्ति भी चल रही थी । " सरफरोशी की तमन्ना आज हमारे दिल में है ; देखना यह है कि जोर कितना बाजू-ए-कातिल में है । " जैसे गीतों से शहादत की एक फौजें तैयार हो रही थी । देश में चारों तरफ "वंदे-मातरम" के नारे लगाये जा रहे थे ।[20] चारों तरफ से आवाजें उठ रही थीं -- "नथी जाण्युं अमारे पंथ शी आफत खडी छे ; खबर छे एटली के मातनी हाकल पडी छे । " [21] अर्थात् हमें मालूम नहीं है कि हमारे रास्ते में कौन-कौन सी मुसीबतें हैं , हम तो सिर्फ यही जानते हैं हमारी भारत मां ने हमें पुकारा है ।

तात्पर्य यह कि उस समय अबालवृद्ध सभी पर राष्ट्रीयता की भावना पूरी बुलंदियों के साथ काबिज़ थी । अतः एक तरफ महात्मा गांधी सरदार पटेल , पंडित जवाहरलाल नेहरू जैसे बड़े-बड़े नेता गांधीजी के नेतृत्व में अहिंसात्मक आंदोलन चला रहे थे ; वहां दूसरी तरफ भगतसिंह , चन्द्रशेखर आजाद , सुखदेव , बटुकेश्वर दत्त , असरफउल्लाखां , सावरकर जैसे क्रांतिकारी लोग "इंन्कलाब जिंदाबाद" के नारे लगाते हुए हिंसात्मक ढंग से स्वाधीनता का आंदोलन चला रहे थे । आजकल बहुत से आतंकवादी स्वयं की तुलना उन क्रांतिकारियों से करते हैं , परन्तु यह स्मरणीय है कि उन क्रांतिकारियों के सामने एक बहुत बड़ा आदर्श था , देश की आजादी उनका मकसद था और उनकी राष्ट्रभक्ति आसमान की बुलंदियों को स्पर्श करती थी । वे देश की अखंडता के पक्षधर थे , न कि देश को छोटे-छोटे टुकडों में खंडित करके उसकी सम्मिलित शक्ति को ललकारना । दूसरे उनकी लड़ाई विदेशी अंग्रेज शासकों से थी । अतः आतंकवादी को शहीदी के रंगों में रंगकर पेश करना नितांत असमीचीन ही समझा जायेगा ।

प्रेमचन्दयुग मुख्यतः राजनीतिक उथल-पुथल का युग था । प्रेमचन्दजी के हिन्दी साहित्य में प्रवेश के साथ ही जलियावाला बाग की घटना घटित हो चुकी थी और असहयोग आंदोलन के रूप में एक व्यापक जंगी आंदोलन

विदेशी सत्ता के विरोध में आरंभ हो चुका था । सन् 1857 के स्वाधीनता संग्राम के बाद अंग्रेजी प्रभुसत्ता को यह सबसे बड़ी चुनौती थी । फलतः राष्ट्रीयता-विरोधी सामंतवादी शक्तियों को शासक-वर्ग की ओर से प्रश्रय दिया जा रहा था । इस जन-आंदोलन को रोकने के लिए सामंत-युग के अवशेष राजा, महाराजा, नवाब, सुलतान, जमींदार आदि को अंग्रेज-सत्ता प्रोत्साहित कर रही थी और उनकी राजभक्ति ‌‌{ अपने देश के संदर्भ में गद्दारी } के एवज में उन्हें रायबहादुर और दीवानबहादुर जैसे खिताबों से नवाज़ा जा रहा था ।

दूसरी तरफ हिन्दू-मुस्लिम दंगों के रूप में जातीय विद्वेष की भूमि को भी निरंतर अभिसिंचित किया जा रहा था । प्रेमचन्दजी ने भी अपने उपन्यासों में इस जातीय विद्वेष को विदेशी कूटनीति का परिणाम बताया है । उनके " सेवासदन" नामक उपन्यास में एक मुसलमान पात्र को यह कहते हुए बताया है — " आलिहाजा मुझे रात को आफताब पर यकीन हो सकता है, पर हिन्दुओं की नेक-नीयती पर यकीन नहीं हो सकता । " [22] इस कथन से यह ध्वनित होता है कि उन दिनों में हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष काफी गहरा हो चुका था ।

सरदार पटेल ने सन् 1928 में बारडोली सत्याग्रह को ज्वलंत सफलता दिलाकर सत्याग्रह के सामर्थ्य को सिद्ध कर दिया था । उसी वर्ष सायमन कमीशन का बहिष्कार हुआ । सन् 1929 ई. में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में युवक-सम्राट पंडित जवाहरलाल नेहरू ने पूर्ण स्वराज्य का नारा दिया था । इसी अधिवेशन में पंडितजी के नेतृत्व में समाजवादी विचारधारा की नींव डाली गई थी तथा भारत की स्वाधीनता को लेकर बड़ी ऊंची उड़ानें भरी गई थीं और कई कसमे-वादे लिए गए थे ।[23]

सन् 1930 में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने दांडीकूच करके नमक के कानून का सविनय भंग किया । गांधीजी सचमुच के जननायक थे ।

साबरमती आश्रम से दांडी [दक्षिण गुजरात] तक की यात्रा के पीछे जन-जागृति ही उनका एक मात्र उद्देश्य था । वे सचमुच में "कोटि-चरण" थे । इस आंदोलन से लोगों में स्वराज्य और राष्ट्रीयता की एक लहर-सी दौड़ गई । अंग्रेज शासकों में खलबली मच गई । गांधीजी, सुभाष-चन्द्र बोस, सरदार वल्लभभाई पटेल, पंडित मोतीलाल नेहरू, पंडित जवाहरलाल नेहरू, अब्बासअली तैयबजी, इमाम साहब, बाबू राजेन्द्र प्रसाद, सरोजिनी नायडू, डा. अन्सारी, मौलाना आज़ाद आदि नेताओं को जेल में ठूंस दिया गया । इसके कारण जन-आंदोलन ने और जोर पकड़ा । सन् 1931 में गांधी-इरविन समझौता हुआ, जिसके तहत इन तमाम नेताओं को मुक्त कर दिया गया । उसी वर्ष द्वितीय परिषद [राउण्ड टेबल कान्फरेन्स] में हाजिरी देने गांधीजी गये परंतु अंग्रेजों की प्रपंच नीति के कारण असफल और निराश होकर वापिस लौट आये । तत्पश्चात् उन्होंने पुनः सत्याग्रह का ऐलान किया । गांधीजी तथा अन्य नेताओं को पकड़ लिया गया । सत्याग्रह की शक्ति को विश्रृंखलित करने के हेतु से कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान में जगह-जगह कौमी हुल्लड़ों की आग को फैलाया । परिस्थितियों से समझौता करते हुए सन् 1935 में प्रांतीय-स्वराज्य की प्राप्ति के रूप में कांग्रेस ने चुनाव लड़ना मंजूर कर लिया । तदनुसार सन् 1936 में बम्बई, मद्रास, संयुक्त प्रांत [उत्तरप्रदेश], मध्यभारत[मध्यप्रदेश], उड़िसा, सरहद प्रांत आदि प्रदेशों में कांग्रेसी- मंत्रीदलों की स्थापना हुई जो अंग्रेजों द्वारा स्थापित मार्गदर्शक सिद्धांतों [डारेक्टिव प्रिंसिपल्स] को केन्द्रस्थ रखते हुए राजकाज में कुछ हिस्सा लेने लगी ।

उपर्युक्त विवेचन से यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य काल में एक-दूसरे के समानांतर कई प्रवृत्तियां चल रही थीं । एक तरफ कांग्रेसी नेताओं द्वारा, विशेषतः गांधीजी के नेतृत्व में, अहिंसा और सत्याग्रह के द्वारा भारत की स्वाधीनता के लिए आंदोलन

चलाया जा रहा था ; तो दूसरी तरफ भगतसिंह , चन्द्रशेखर आजाद जैसे क्रांतिकारियों के द्वारा उसी ध्येय के लिए हिंसात्मक लड़ाई भी जारी थी । तीसरे आर्यसमाज , प्रार्थनासमाज , ब्रह्मोसमाज , थियोसोफी सोसायटी जैसे सामाजिक, धार्मिक सुधारवादी आंदोलन चल रहे थे ; जिनके तहत भारतीय समाज में दृढ़मूल कुरीतियों की भर्त्सना करते हुए , भारतीय संस्कृति के आधारभूत मूल्यों की तलाश हो रही थी और इस प्रकार हमारी शताब्दियों विस्मृत अस्मिता को पुनः जगाने की एक संनिष्ठ चेष्टा हो रही थी । इस प्रकार अनेक सामाजिक राजनीतिक पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियां परस्पर अंतर्लयित होते हुए भारतीय महाद्वीप की स्वाधीनता के प्रयत्न कर रही थी ।

सामाजिक दृष्टि से अनेक प्रकार की विसंगतियां तब भी विद्यमान थीं । ग्रामीण समाज नाना प्रकार के अन्धविश्वासों एवं कुरीवाजों में फंसा हुआ था । अज्ञानता के कारण उनका चौमुखी अधःपतन हो रहा था । गांव के जमींदार , महाजन , मुखिया ही नहीं , अपितु शहर के छोटे-मोटे अधिकारी भी उनका आर्थिक-नैतिक शोषण कर रहे थे । स्त्रियों की स्थिति खास अच्छी नहीं थी । बाल-विवाह , अनमेल विवाह , वृद्ध-विवाह , दहेजप्रथा आदि के कारण उसकी स्थिति शोचनीय अवस्था को पहुंच गई थी । दहेजप्रथा के कारण ही वृद्ध-विवाह पनप रहा था और उसके रहते विधवाओं की समस्या सामने आ रही थी । स्त्री-शिक्षा का प्रचार कुछ उच्च जातियों तक सीमित था । नौकरी-धंधे में बहुत कम स्त्रियों को समाविष्ट किया जाता था । छोटे किसानों की स्थिति बदतर थी । रातदिन परिश्रम करते हुए भी उन्हें न पर्याप्त अन्न प्राप्त था न वस्त्र । "पूस की रात" कहानी के हल्कू की भांति पूस के भयानक जाड़ों से निबटने के लिए एक कंबल भी खरीदने की स्थिति में वे नहीं है । घर के आगे अपनी एक गाय हो यह उनके सपनों की पराकाष्ठा होती है # । शहर के कुछेक तबकों में शैक्षणिक एवं राजनीतिक चेतना के दर्शन

होते हैं, परंतु वहां भी परिश्रमधर्मा मजदूरों की स्थिति में कोई विशेष अंतर दृष्टिगत नहीं होता। नगर के हिन्दू-मुस्लिम तबकों में मतभेद और मनभेद की प्रवृत्ति जोर पकड़ रही थी और कुछ लिगी नेता मुसलमानों के दिलो-दिमाग में जहर घोलने का काम कर रहे थे, तो दूसरी तरफ कुछ कट्टर हिन्दुत्ववादी संस्थाएं हिन्दुओं को भड़का रही थीं। वस्तुतः इस मुस्लिम वैमनस्य का उत्स अंग्रेजों की कूटनीति में था। अंग्रेजी शासक बराबर चाह रहे थे कि हिन्दुस्तान की इन दो कौमों के बीच में हमेशा दंगे-फसाद होते रहें, अतः दोनों कौमों को भड़काने का एक भी मौका वे हाथ से जाने नहीं देते थे। इस तरह एक तरफ जहां सुधारवादी-प्रगतिशील शक्तियां एक जुट होकर स्वाधीनता के लिए भरसक कोशिश कर रही थीं, वहां दूसरी तरफ कुछ पुरातन-पंथी प्रगति-विरोधी एवं आत्मघाती शक्तियां इस जोड़-तोड़ में व्यस्त थीं कि हमारे यहां के समाज में निरंतर कुछ तोड़-फोड़ चलती रहे।

उपन्यास और युगीनबोध :

पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि उपन्यास का हमारे समाज-जीवन से घनिष्ट संबंध है। अतः काल की संकल्पना उपन्यास के साथ सदैव जुड़ी रहेगी। प्रेमचन्द का "गोदान" 1934-36, रेणु का "मैला आंचल" 1952-54, यशपाल का " झूठा सच " 1960 में ही संभव हो सकता था क्योंकि उपर्युक्त उपन्यासों में जिन सामाजिक स्थितियों और समस्याओं की संकुलताओं और जटिलताओं को उकेरा गया है, वे उसके पूर्व संभव नहीं थी। उपन्यास अपने युग की प्रवृत्तियों को वाणी देता है। उपन्यास के कथानक में नवीनता या मौलिकता के आग्रह की जो बात चलायी गई है, वह भी इन बदलती हुई सामाजिक स्थितियों पर निर्भर है। समाज में जब भी कोई नवीन स्थिति आकार लेती है, तब उपन्यासकार को कोई नवीन विषय मिल जाता है।

जैसे रेणु का "जुलूस" उपन्यास में बंगलादेश की स्थापना के समय की रिफ्यूजियों की समस्याओं को तथा उनके कारण अन्य लोगों के जीवन में आये बदलावों को रेखांकित किया गया है । यशपाल का "झूठासच" विभाजन की विभीषिकाओं को लेकर लिखा गया है । भीष्म साहनी के "तमस" उपन्यास में कौमी दंगों की राजनीति को बखूबी उकेरा गया है । गुजराती के कथाकार शिवकुमार जोशी ने गुजरात में उद्भुत "नव-निर्माण " के आंदोलन को लेकर उपन्यास की रचना की थी । शैलेश मटियानी के उपन्यास "नाग वल्लरी" में जनतादल के शासनकाल तक की घटनाओं का परिप्रेक्ष्य लिया गया है । अभिप्राय यह कि समाज में जब-जब कुछ उथल-पुथल होती है , लेखकों को नये विषय मिल जाते हैं । साहित्य को जो समाज का मुख और मस्तिष्क कहा गया है , वह कदाचित उपन्यास के संदर्भ में सौ फी सदी ठीक प्रतीत होता है । इस दृष्टि से देखा जाय तो प्रेमचन्द कथा-साहित्य में हमें तात्कालीन सामाजिक राजनीतिक जीवन की सभी प्रवृत्तियां दृष्टिगत होती हैं । उनमें नारी , किसान-मजदूर और निम्नवर्ग के शोषित पीड़ित तबके की समस्याएं , दहेज प्रथा और उसके दुष्परिणाम , उसके कारण होने वाले अनमेल विवाह , वृद्ध विवाह , उससे जुड़ी हुई वेश्या समस्या , भारत की पराधीनता , अंग्रेजों की कूटनीति , हिन्दु-मुस्लिम वैमनस्य आदि मुख्य हैं ।

सचमुच में साहित्य युग की धड़कनों को अंकित कर युग-सत्य को अभिव्यक्ति प्रदान करता है । इस संबंध में डा. त्रिभुवनसिंह के विचार उल्लेखनीय हैं — " देशकाल में भेद पड़ने के कारण सामाजिक परिस्थितियों में जो अंतर पड़ता है , उसका अविलंब प्रभाव साहित्यिक रूप पर पड़ता है । साहित्य धर्म की मान्यता तथा उसके रूप का निर्धारण युग के अनुसार हुआ करता है और इसके अन्दर भी युगानुकूल मोड़ आते रहते हैं । हमारा आधुनिक उपन्यास साहित्य मानव की

आधुनिक विषम परिस्थितियों की देन है । "[24] वर्तमान युग की तमाम विषम परिस्थितियाँ भारतीय समाज के नीचले दो वर्गों को विशेषतः प्रभावित कर रही है । हिन्दी उपन्यास ने इन दो वर्गों की विभीषिकाओं व विषमताओं को अपने समूचे रचना-कौशल से अभिव्यक्त किया है ।

"हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्ग" की लेखिका डा. मंजुलता सिंह का निम्नलिखित कथन इस संदर्भ में द्रष्टव्य रहेगा — " हिन्दी उपन्यासकार अपनी युगीन मध्यवर्गीय समस्याओं को प्रारंभ से ही अंकित करते आ रहे हैं । मध्यवर्ग के विकास में किन-किन परिस्थितियों का योग रहा है और मध्यवर्ग ने उनके माध्यम से किन-किन समस्याओं को सुलझाने का सतत प्रयत्न किया , इसे उपन्यासकारों ने विस्तार से चित्रित किया है । पंडित श्रद्धाराम फल्लौरी से लेकर धर्मवीर भारती तक के उपन्यास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी उपन्यास प्रारंभ से आज तक परिवर्तित परिस्थितियों और संघर्षपूर्ण समस्याओं की एक सशक्त अभिव्यक्ति रहा है । "[25] इसकी पुष्टि श्रीमती बीना श्रीवास्तव ने भी की है — " वस्तुतः हिन्दी उपन्यास का जन्म ही मध्यवर्गीय चेतना के क्रोड़ से हुआ है और उसी के भीतर से अपना मार्ग बनाता हुआ वह उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होता गया । "[26]

युगीन चेतना न केवल सामाजिक-राजनीतिक उथल-पुथल की देन है , अपितु उसमें आर्थिक स्थितियां भी उत्तरदायी होती हैं । सामाजिक और राजनीतिक आधारशीला आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर है । प्रेमचन्द के समय की भारतीय समाज की आर्थिक विपन्नता के पीछे ईस्ट इंडिया कंपनी की भयंकर लूट-खसोट जिम्मेदार है । नादिरशाह व चंगेजखां जैसे आक्रमणकारियों से भी अधिक घृणित यह लूट-खसोट थी , क्योंकि कानून एवं सभ्यता के लबादों को ओढ़कर उसे कार्यान्वित किया गया । मुक्तिबोध ने इस संदर्भ में लिखा है — " कंपनीराज से भारत तंग हो गया । बंगाल में लूट मची । "लूट" अंग्रेजी शब्द बन गया,

बंगाल के धन से इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात हुआ । अब वहाँ बड़े पैमाने पर उत्पादन शुरू हो गया । तैयार माल भारत आने लगा । देशी वस्त्र-उद्योग ठप्प हो गया । लाखों कारीगर बेकार हो गये । कंपनी-राज ने परंपरागत भारतीय अर्थ-व्यवस्था को बलपूर्वक नष्ट कर दी । पंचायती आत्मनिर्भर ग्राम-समाज चौपट हो गये । भूमिपति भारत की भूमि में जबरदस्ती आरोपित किये गये । " 27 प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में अंग्रेजी शासन के प्रति जो विक्षुब्धाभाव और आक्रोश मिलता है, उसका यही कारण है ।

युगीन चेतना और तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक धार्मिक आंदोलन :

प्रेमचन्द की युगीन चेतना तत्कालीन सुधारवादी आंदोलनों से पुनर्गठित हुई है । स्वयं प्रेमचन्द पर आर्यसमाजी आंदोलन का प्रभाव परिलक्षित किया जाता है, इतना ही नहीं अपितु प्रेमचन्द के समकालीन राजा राधिकारमण प्रसादसिंह, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, वृन्दावनलाल वर्मा जैसे लेखकों पर आर्यसमाज की नारी संबंधी तथा छुआछूत विरोधी नीतियों का प्रभाव हम देख सकते हैं । प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्द के समकालीन लेखकों के सामने दो प्रकार के प्रभाव थे -- स्वाधीनता क संग्राम की लड़ाई दो खेमों में लड़ी जा रही थी । एक तरफ तो भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सुखदेव, बिसमिल्लाखान, अशरफउल्लाखान जैसे क्रांतिकारी थे ; तो दूसरी तरफ महात्मा गांधी, मोतीलाल नेहरू, पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल जैसे गांधीजी के नेतृत्व में अहिंसक आंदोलन चलाने वाले नेता मिलते हैं । स्वाधीनता संग्राम के नेता -- दोनों प्रकार के हिंसावादी और अहिंसावादी -- सुधारवादी आंदोलनों से अनुप्रेरित थे । इस प्रकार सुधारवादी आंदोलनों ने राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के लिए पृष्ठभूमि को तैयार किया । इन सुधारवादी आंदोलनों में निम्नलिखित तीन आंदोलन बड़े ही महत्वपूर्ण हैं -- ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और प्रार्थनासमाज ।

अंग्रेजों के शासन से जहाँ हमारे देश का आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पारावार नुकसान हुआ है ; वहाँ अंग्रेजों की तर्कवादी , बुद्धिवादी, वैज्ञानिक दृष्टि ने हमारे यहाँ एक ऐसे प्रबुद्ध वर्ग को जन्म दिया जिसने भारतीय समाज , संस्कृति और इतिहास का पुनर्मूल्यांकन करते हुए उसके कुछ स्थायी सनातन मूल्यों को पुनर्स्थापित किया । भारतीय समाज की प्रगति में बाधक ऐसे जीर्ण-क्षीण तत्वों को निकाल बाहर किया । ऐसे आधुनिक चेतना के अग्रदूतों में राजा राममोहनराय का नाम महत्त्वपूर्ण है । भारतीय जन-जागरण में उनकी भूमिका अविस्मरणीय रहेगी । राजा राम मोहनराय ने एक सच्चे युगद्रष्टा की भाँति पूर्व और पश्चिम के वैचारिक , धार्मिक , सामाजिक मतों के बीच में से अपना एक मध्यम-मार्ग निकाला । 20 अगस्त सन् 1828 ई. में उन्होंने ब्राह्म-समाज की स्थापना कलकत्ते में की और उसके द्वारा समाज-सुधार के अनेक कार्य किए । सतीप्रथा पर कानूनन प्रतिबंध भारतीय इतिहास की एक महत्त्व-पूर्ण घटना है जिसका श्रेय रायसाहब को ही जाता है । बिहार-बंगाल के उच्चवर्गीय लोगों में दहेज या तिलक की रकम काफी ऊँची थी , जिसके फलस्वरूप गरीब ब्राह्मण-ठाकुरों की कन्याएं अविवाहित रह जाती थीं । इस अविवाहितता के कलंक को दूर करने के लिए एक प्रथा कुलीन विवाहों की चल पड़ी थी । इसमें कुलीन ब्राह्मण अनेक कन्याओं से विवाह कर लेते थे । विवाह के बाद कन्या माँ-बाप या भाइयों के पास ही रहती थी , दामादजी कभीकभार आ जाया करते थे । ये लोग इतने विवाह कर लेते थे कि कई बार अपनी ससुराल के गाँवों के नाम तक भूल जाया करते थे । राजा राममोहनराय ने इस प्रथा का भी विरोध किया । उन्होंने नारी के अभ्युत्थान तथा उसकी आर्थिक स्वाधीनता के लिए भी अनेक प्रयत्न किये , क्योंकि पश्चिमी विचारों के अध्ययन से वे इतना तो जान पाये थे कि नारी की अवदशा के मूल में उसकी आर्थिक परनिर्भरता कारणभूत है । अतः नारी को आर्थिक दृष्टया आत्मनिर्भर करने के लिए उन्होंने नारी-शिक्षा पर अधिक जोर दिया । इस सन्दर्भ में डा. के.पी.एम सुंदरम् के विचार दृष्टव्य

रहेंगे —

" द रिमुवल आफ पावर्टी इन द वेस्टर्न [illegible] कन्ट्रीज हेज हेल्पड द फिमेल्स टु ओवरकम द बायोलोजिकल एण्डान्टेजिस एसोसिएटेड विद द लाइफ आफ वुमन , बोथ एट द टाईम पुबर्टी एण्ड एट दटाईम आफ रीप्रोडक्शन , एबेटर हेल्थ स्टाण्डर्ड आफ द फिमेल थेट इज़ ए कोन्सेक्वेन्स आफ प्रिविलेज आफ हाईर इनकम लेवल्स , आल्सो प्रोवाइड्स थेम इण्टर्नल रेजिस्टेन्स अगेइन्स्ट डिसीज़. लो लेवल आफ लिविंग इज़ एकम्पनेड बाय लो लेवल आफ एज्युकेशन , पुअर हेल्थ , डीहायजेनिक लिविंग कन्डीशन्स एक्सेट्रा ." 29

तात्पर्य यह कि भारतीय समाज में नारी की अवदशा के पीछे उसकी दरिद्रता प्रमुख है । इसी कारण से उसका शारीरिक स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता और अनेक बीमारियों का भोग होते हुए वह असमय ही वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाती है ।

नारी की इस अवदशा के सुधार में राजा राममोहनराय , महर्षि देवेन्द्रनाथ , केशवचन्द्र सेन प्रभृति ब्रह्मो-समाजियों का योगदान नकारा नहीं जा सकता । इस समाज का रूप निर्विवाद रूप से भारतीय था और भारतीय परंपरा में कहें तो कह सकते हैं कि यह अभिलाषी हिन्दुओं की संस्था थी । वस्तुतः ईसाइयों के द्वारा हिन्दुत्व पर जो हमले हो रहे थे , उसके विरोध में ये लोग खड़े हुए थे , अतः उनकी स्थिति संरक्षणात्मक प्रकार की थी । फलतः उन्होंने हिन्दुत्व के उस रूप को अंगीकृत किया जो मुस्लिम और ईसाई मत के करीब था । पुनर्जन्म , अवतारवाद , तीर्थ-मंदिर और मूर्तिपूजा का समर्थन वे नहीं कर सके । रामधारी सिंह दिनकर ने ब्राह्म-समाज के सन्दर्भ में लिखा है — "हिन्दुत्व का जो रूप उन्होंने लिया , वह ईसाइयत और इस्लाम से अधिक भिन्न नहीं था । ईसाइयत और हिन्दुत्व के युद्ध का यह पहला मोर्चा था , जिसमें हिन्दुत्व कुछ लजाया हुआ और प्रतिपक्षी की प्रबलता से आतंकित था ।" 29

महाराष्ट्र में "परमहंस" नामक एक गुप्त संस्था चल रही थी, जिसकी स्थापना सन् 1849 में हुई थी । यह संस्था सामाजिक सुधारों का कार्य कर रही थी, जाति-प्रथा का भंजन उसका मुख्य उद्देश्य था । मोडर्न रिलीजस मूवमेण्ट इन इण्डिया " नामक पुस्तक में प्रसिद्ध इतिहासकार फर्कुहर ने उल्लेख किया है कि इस संस्था में वही व्यक्ति सदस्य हो सकता था जो किसी मुसलमान या ईसाई के हाथ का बना हुआ खाना खाने को प्रस्तुत हो ।[30]

आगे चलकर प्रखर ब्रह्मसमाजी समाजसुधारक केशवचन्द्र सेन की प्रेरणा से सन् 1864 ई. में "परमहंस" संस्था ने प्रार्थना समाज को जन्म दिया । इसके मुख्यतः चार उद्देश्य थे — जाति-व्यवस्था को समाप्त करना, विधवा-विवाह का समर्थन, स्त्री-शिक्षा का प्रचार और बाल-विवाह का विरोध । हिन्दू-समाज के इन चार दोषों पर बाहरवालों की दृष्टि सीधे पड़ती थी और इन दोषों का समर्थन कट्टर लोग भी नहीं कर पाते थे । अतएव सुधारवादियोंने सबसे पहले इन्हीं पर ध्यान दिया । महादेव गोविंद रानडे, आगरकर, गोखले, लोकमान्य तिलक आदि इनके प्रमुख नेता हुए । इस संस्था ने नारी-शिक्षा का प्रचार किया । उसके लिए रात्रि-शालाओं का आयोजन किया । बाल आश्रम और विधवा आश्रमों की स्थापना की तथा स्त्रियों में चेतना जगाने के उद्देश्य महिला-संघों की स्थापना भी की । डॉ. कुंवरपाल सिंह के शब्दों में कहें तो " प्रार्थना समाज की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसने धार्मिक तत्वों का सामाजिक क्षेत्र में प्रवेश नहीं होने दिया । 'समाज' ने ब्रह्मसमाज की भांति पश्चिमपरस्त होना भी उचित नहीं समझा, साथ ही आर्य समाज की तरह प्राचीनता की गुहार भी नहीं लगाई । "[31]

"ब्रह्मोसमाज" और "प्रार्थनासमाज" के साथ-साथ आर्यसमाज ने भी जन-जागृति का महत्त्वपूर्ण कार्य किया । आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना सन् 1975 में हुई ।[32] 19वीं शताब्दी में जो सुधारवादी आंदोलन चल रहे थे, उनमें आर्यसमाजी आर्यसमाजी आंदोलन भी था

जिसने प्रारंभ से ही विदेशी राज्य का विरोध एवं स्वदेशी राज्य का समर्थन किया था ।

यह भी एक सुविदित तथ्य है कि हिन्दी भाषा के महत्व को भी सर्वप्रथम इसी संस्था ने अंगीकृत किया । जिस प्रकार महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए तत्कालीन लोकभाषाओं को अपनाया था , उसी प्रकार महर्षि दयानंद सरस्वती ने भी आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए हिन्दी भाषा के माध्यम का चयन किया और इस प्रकार हिन्दी गद्य के विकास में दयानंद सरस्वती तथा उनके आर्यसमाज का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है । अन्य दो समाजों की अपेक्षा आर्यसमाज के अधिक प्रचार-प्रसार के पीछे यह भी एक कारण है । लोकभाषा के द्वारा ही क्लास से मास तक पहुंचा जा सकता है । यह ध्यातव्य रहे कि महर्षि दयानंद सरस्वती ने बहुत पहले ही हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में स्थापित कर दिया था । प्रेम-चन्द पर भी आरंभ में आर्यसमाज का काफी प्रभाव था , और बाद में भी उसके अनेक मुद्दों से वे आखिर तक सहमत रहे । वे भी प्रायः कहा करते थे कि बिना राष्ट्रभाषा के कोई राष्ट्र राष्ट्र की संज्ञा को प्राप्त नहीं कर सकता । स्वाधीनता-संग्राम के दिनों में इसी भाषा ने पूरे देश को एक जुट करके अपनी राष्ट्रभाषा संज्ञा को सार्थकता प्रदान की थी । स्वाधीनता-संग्राम के समय की यदि कोई स्वीकृत राष्ट्रभाषा थी तो वह हिन्दी ही थी , जिसे तत्कालीन अनेक नेताओं ने स्वीकृत कर लिया था । अछूतोद्धार , खादी के प्रचार आदि की भांति हिन्दी केप्रचार को भी गांधी का ही काम माना जाता था और हिन्दी को वहां स्थापित करने में आर्यसमाज की भूमिका को सदैव याद किया जायेगा । "स्वराज्य" शब्द को आधुनिक अर्थ भी स्वामीजी ने ही दिया था । उन्होंने एक स्थान पर लिखा है — "विदेशी राज्य चाहे माता-पिता के समान क्यों न हो , स्वदेशी राज्य की समानता कभी नहीं कर सकता । " [33]

आर्यसमाजी आंदोलन केवल भद्रवर्ग या मध्यवर्ग तक सीमित

न रहते हुए आम जनता को भी प्रभावित करता है । आर्यसमाज से प्रभावित लोगों ने अशिक्षा , कुरीतियों, मूर्तिपूजा का विरोध , तीर्थाटन का विरोध ; बलि-प्रथा, परदाप्रथा, दहेजप्रथा का विरोध ; बालविवाह और अनमेल-विवाह का खंडन आदि बातें सामान्य रूप से मिलती हैं । एक तरफ जहां उन्होंने विधवा-विवाह तथा नारी-शिक्षा को प्रोत्साहन देकर स्त्री को आत्मनिर्भर बनाने की चेष्टा की , वहां दूसरी तरफ अछूतों को मानवीय अधिकार दिलवाने का पुरजोश प्रयत्न भी किया । उत्तर भारत में , विशेषतः उत्तरप्रदेश और पंजाब में , आर्यसमाज ने एक जन-आंदोलन का कार्य किया । उसमें सभी प्रकार की विचारधारा के लोग थे । भारत की स्वाधीनता को लेकर जो राष्ट्रीय आंदोलन हुआ उसमें भी आर्यसमाज का एक बहुत बड़ा वर्ग सम्मिलित हो गया । आज भी आपको वहां कई ऐसे कांग्रेसी परिवार मिल जायेंगे जो मूलतः आर्यसमाजी हैं । आर्यसमाजियों दूसरा एक छोटा-सा वर्ग , जो ब्रिटिश साम्राज्य का कट्टर विरोधी और अधिक उग्रवादी था , क्रांतिकारियों के दल में मिल गया । प्रसिद्ध क्रांतिकारी चन्द्रशेखर आज़ाद, बिस्मिल , रोशनसिंह आदि का संबंध पहले आर्यसमाज से ही था , और वाया आर्यसमाज ही वे क्रांतिकारी-प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर हुए ।[34]

इस प्रकार यह तथ्य लक्षित किया जा सकता है कि प्रेमचन्द-युगीन चेतना को अभिसिंचित करने में उक्त ब्रह्मोसमाज; प्रार्थनासमाज तथा आर्यसमाज की अहम भूमिकाएं रही हैं । उक्त समाजत्रयी ने एक वैचारिक पृष्ठभूमि का निर्माण किया । इनके अतिरिक्त स्वामी विवेकानंद , रामकृष्ण परमहंस , श्रीमती एनी बेसण्ट , बंकिम-रवीन्द्र , सर सैयद अहमद , डा. इकबाल , महात्मा गांधी , महर्षि अरविंद आदि का भी उल्लेख होना चाहिए जिन्होंने उस युग की वैचारिक-कृषि में जल-सिंचन एवं उर्वरकों का कार्य किया । बिना इन महानुभावों के उस चेतना का विकसित होना संभव नहीं था ।

लेखक के वैयक्तिक जीवन का उसकी रचनात्मकता पर प्रभाव :

जीवन मानव-अनुभवों का पुंज है । किसी भी व्यक्ति को जीवन में जो विशिष्ट प्रकार के अनुभव होते हैं , उसीके आधार पर उसके चेतना-पिंड का निर्माण होता है । वस्तुतः अनुभव ही वह चाकडा [चक्र] है जिसके ऊपर स्थित होकर मनुष्य का मृत्तिका-पिंड एक विशिष्ट आकार — व्यक्तित्व — प्राप्त करता है । संसार में जितने भी महान पुरुष हुए उन्होंने अपने निजी अनुभवों से अपने व्यक्तित्व के गुणों को विकसित किया है । प्रसिद्ध इतिहासविद और गुजरात इतिहास परिषद की अध्यक्षा डा. शिरीन एम. मेहता ने अभी सम्प्रति एक सेमिनार में कहा था -- " नोबडी केन राइज एबव द सोशियल मिल्यू " [35] — अर्थात कोई भी व्यक्ति अपनी सामाजिक परिस्थितियों के ऊपर नहीं जा सकता । अभिप्राय यह कि उनका असर उस पर — विधेयात्मक या निषेधात्मक — पड़ता ही है । चन्द्रगुप्त मौर्य , अशोक, अकबर , अब्राहम लिंकन , लेनिन , गांधी जैसे महान इतिहास निर्माताओं के चरित्रों में यदि हम झांकें तो ज्ञात होगा कि उनके जीवन के दुर्धर्ष संघर्षों ' ने ही उनको यह ऐतिहासिक स्थान दिलाया था । बिना संघर्ष के किसी कलाकृति में जान नहीं ~~अरसा~~ आती तो जीवन में कहां से आयेगी । मेरे निर्देशक डा. चन्द्रकांत देसाई प्रायः अपना एक शेर सुनाते हैं -- " मिले है गम कई तो फिर यारो हम संभल बैठे , मिली होतीं अगर खुशियां तो कितने बेखुदा होते । " अतः किसी भी व्यक्ति के लिए जीवन के ऐसे खट्टे-मीठे अनुभवों का विशेष महत्त्व है । प्रेमचन्दजी गांधीवादी-मार्क्सवादी दौर के साहित्यकार न होकर मध्यकालीन समय के साहित्यकार होते तो निश्चित रूप से उनकी रचनात्मकता का स्वरूप कुछ और होता । आलोचना की एक विशिष्ट सरणी को मनोवैज्ञानिक आलोचना [सायकोलोजिकल क्रीटीसिज्म] कहते हैं , उसमें मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर कवि या लेखक की आंतरिक प्रेरणा के उत्स को ढूंढा जाता है ।

किसी कवि या लेखक को किन्हीं विशिष्ट प्रकार के प्रतीकों, बिम्बों, रंगों, प्रवृत्तियों और पात्रों से क्यों लगाव है, उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है। प्रेमचन्दजी के साहित्य को समझने के लिए भी उनके वैयक्तिक जीवन के प्रभावों को, उनके संघर्षों को, उनकी मानवीय संवेदना-यात्रा को समझने की आवश्यकता है।

किसी भी लेखक या कवि का चेतना विकास भी अपने जीवन के यथार्थ अनुभवों से निर्मित होता है। जो लेखक या कवि जीवन में जितना ही ज्यादा गहरा उतरेगा उसे उतने ही अधिक विकट संघर्षों से गुजरना होगा। अपने समय के यथार्थ जीवनानुभवों को प्राप्त करने के लिए उसे अपने युगगत संघर्षों से दो-चार होना ही पड़ता है। जो इनसे कतराता है, वह अपने युग-सत्य को नहीं कह पाता। अभी हाल ही में निर्मल वर्मा ने अपने एक लेख में कहा है — "एक भारतीय लेखक यदि किसी अर्थ में अन्य देशों के लेखकों से अलग है तो सिर्फ इसमें कि वह न अपने सेल्फ का प्रवक्ता है, पश्चिमी लेखकों की तरह न अपने समाज का प्रतिनिधि है। उसकी कोशिश यह है कि वह सेल्फ और समाज के बीच एक सेतु स्थापित कर सके — एक कविता, एक उपन्यास, एक कलाकृति में।"[34] किन्तु यह तभी हो सकता है जब हम सेतु के नीचे बहती धाराओं को मुक्त रूप से अपने भीतर बहने दें। तात्पर्य यह कि वह उन सब मान्यताओं या विचारधारा का विरोध करें जो इस प्रवाह को कुण्ठित और कलुषित करती हैं। जो लेखक अपने युगीन सन्दर्भों को संघर्षों से सीधे जूझता है वही समाज की प्रातिनिधिक रचनाओं को देने में समर्थ हो सकता है। अपने समाज के संघर्षों से कतराने वाला व्यक्ति कभी भी अपने सही और युगीन यथार्थ का चित्रण नहीं कर सकता।

यह जीवन भी एक समुद्र जैसा है। तट पर भीड़ ज्यादा है, क्योंकि यहां लोगों के पैर टिकते हैं, ज्यादा भीतर गहरे जाने में खतरा है, जो बहुत कम लोग उठाना चाहते हैं। परंतु मानव-जीवन

का रहस्य — मोती — भी वे ही लोग पा सकते हैं । किनारे वाले लोग ज्यादा सुरक्षित हैं, परन्तु यह तथ्य गौरतलब है कि संसार को आगे बढ़ाने वाले लोग हमेशा वही रहे जिन्होंने कभी सुरक्षितता का अधिक विचार नहीं किया । सुरक्षित जीवन आराम से कट जाता है, पर कट ही जाता है, और जीवन, सही जीवन काटने के लिए प्रत्युत जीने के लिए होता है । और खतरों से कतराने वाले कभी भी जीवन के असली भावनों को नहीं समझ सकते । प्रेमचन्द के ही समय में, प्रेमचन्द जैसे ही, औसतन आर्थिक स्थिति में उस समय भी अनेक लोग रहे होंगे, परन्तु वे सब प्रेमचन्द नहीं बन सके, क्योंकि प्रेमचन्द बनने के लिए जिन यथार्थ अनुभवों और संघर्षों की आवश्यकता है, उसे प्राप्त करने के लिए जीवन में गहरे पैठने की जरूरत होती है । गुजराती के एक कवि बाड़ीलाल डगली कुछ काव्य-पंक्तियाँ इस प्रकार हैं — "तूफानोनी एने खबर होय क्यांथी ? सरे नाव जेनुं किनारे किनारे ।" अर्थात् जिसकी जीवनरूपी नैया किनारे ही किनारे डोलती है वह जीवन के असली तूफानों को क्या समझेगा । हिन्दी में भी अंचलजी ने लिखा है — " फूल काँटों में खिला था, सेज पर मुरझा गया । "

प्रेमचन्द की प्रतिभा का ~~फूल~~x पुष्प इसलिए नहीं मुरझा पाता कि वह संघर्ष के काँटों के बीच खिला है । अतः मानवीय संवेदना, दर्द, करुणा जैसे भाव प्रेमचन्द को अनायास मिल गये हैं । प्रेमचन्द में जो दर्द या करुणा का अहसास है उसके कारण ही उनका रचना-पथ सदैव आलोकित होता रहा है । आधुनिक हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध चिंतक जैनेन्द्रकुमार ने त्यागपत्र उपन्यास में लिखा है — "मानव चलता जाता है और बूंद-बूंद दर्द इकट्ठा होकर उसके भीतर भरता जाता है वही सार है । वही जमा हुआ दर्द मानव की मानस-मणि है, उसके प्रकाश में मानव का गतिपथ उज्ज्वल होगा । " [37]

नवीनता के व्यामोह में कुछ लोगों ने कभी प्रेमचन्द के लेखन की प्रासंगिकता को लेकर सवाल उठाया था, परन्तु सभी आधुनिकों के अनुकूल

ऐसे अज्ञेयजी ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा था कि प्रेमचन्दजी में जो मानवीय संवेदना मिलती है, वहाँ हम अभी तक पहुँच नहीं पाये। जिस दिन प्रेमचन्द से बड़ी मानवीय संवेदना हम अपने बीच में उपस्थित पायेंगे, तब यह सवाल करने के हकदार हम हो सकते हैं। तब तक तो प्रेमचन्द हम सब लोगों के लिए गुरु स्थान पर हैं और आज भी वे हमारा मार्गदर्शन कर सकते हैं।[38]

शैशवकालीन प्रभाव :
==============

लेखक ही नहीं अपितु मनुष्य के जीवन में भी शैशव अवस्था का बड़ा महत्व होता है। मानव जीवन की यह वह अवस्था है, जिसमें यदि थोड़ी-सी तरी मिल जाय तो उसका जीवन सँवर जाता है। शैशव-कालीन प्रभाव दीर्घकालीन एवं दीर्घसूत्रीय होते हैं। वैसे मानव-व्यवहार की बहुत-सी गतिविधियों को नहीं समझ पाने के कारण कई बार उन्हें आकस्मिक या अकारण समझते हैं। परंतु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो अकारण या आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। जन्म से लेकर मृत्यु तक जो नानाविध अनुभव होते हैं, वे अनुभव उसके अचेतन मन में संग्रहीत संग्रहीत होते रहते हैं, जिसके कारण लिबिडो का निर्माण होता है। यह लिबिडो जीवन के सभी अनुभवों का मानो संग्रहालय है। उसमें ढेर सारी स्मृतियाँ, ढेर सारे प्रभाव; असंकलित एवं अव्यवस्थित रूप में पड़े रहते हैं, और उन सबसे मानव जीवन का व्यवहार परिचालित होता रहता है। मनुष्यxकीxतुलनाxमेंxलेखकx दूसरे सामान्य मनुष्य की तुलना में लेखक अधिक संवेदनशील एवं भावप्रवण होने के कारण शैशवकालीन प्रभावों का उसके लिए बड़ा महत्व है। प्रेमचन्द के उपन्यास और कहानियों में छोटे बच्चे की भावुक स्थितियों का विपुल परिमाण में मिलता है, क्योंकि प्रेमचन्द का शैशव सुखद प्रकार का कभी नहीं रहा। आठ वर्ष की अवस्था में माता की मृत्यु और उसके बाद विमाता के अनेक प्रकार के त्रास। कुछ वर्षों

बाद पिता की भी मृत्यु हो जाने से असमय ही परिवार के सम्पूर्ण बोझ को उठाना पड़ता है । फलतः प्रेमचन्द का शैशव मानो मुरझा गया था । इसका प्रभाव हमें उनके लेखन में अनेक स्थानों पर प्रतिबिंबित होता हुआ दृष्टिगत होता है । शैशवकालीन प्रभाव किसी लेखक के जीवन को किस हद तक प्रभावित करते हैं, उसका अच्छा उदाहरण हमें नोबेल पारितोषिक विजेता अर्नेस्ट हैमिंग्वे के जीवन से मिलता है । हेमिंग्वे के माता-पिता की प्रकृति परस्पर भिन्न होने के कारण उनमें सदैव संघर्ष चलता रहा । हमिंग्वे के पिता को प्रायः पत्नी के वशवर्ती होना पड़ता था । एक प्रकार से उनकी स्थिति "हेनपेक्ड हसबण्ड" जैसी थी । इसके परिणाम-स्वरूप हेमिंग्वे के स्त्री-चरित्र भी प्रायः क्रूर तथा माया, ममता, करुणा इत्यादि स्त्री-सहज भावों से विलुप्त मिलते हैं । इस संबंध में आर.टी. जैन के विचार द्रष्टव्य हैं —

"ही वाज़ मच मोर [illegible] इनफ्लुयन्स्ड बाय द कोनफ्लिक्ट बिटवीन हिज म्यूजिक लविंग मदर एण्ड हिज फादर, हु लव्ड आउट-डोर लाईफ एण्ड रीयर्ड करेज. थिस कोनफ्लिक्ट एण्ड इन हिज मदर डोमिनेटिंग ओवर हर हसबण्ड एण्ड रिड्युसिंग हीम टु अ हेनपेक्ड हसबण्ड ओन हेमिंग्वे थिस सीच्युएशन हेड प्रोफाउण्ड इनफ्लुयन्स. इट ब्रेड इन हिम एन इन्टेन्स डिस्टर्ब आफ द डोमिनियरिंग टाईप आफ ह्युमन एण्ड माईट हेव बिन रीस्पोन्सिबल फोर हिज ब्रोकन मेरेज विथ पोलाइन हिज सेकण्ड वाईफ. इन टर्म्स आफ लिटररी एक्सप्रेशन्स, इट लेड्ड हेमिंग्वे आयधर टु पोर्ट्रे विमेन थ्रु द मिडियम आफ अ विशफुल फिलामेण्ट आर इन द फोर्म आफ डोमिनियरिंग विगरस व्हेल्पस. ही कण्डेम्ड हार्टली एण्ड फोर्थराइटली. इन फेक्ट इन हिज नोवेल्स हेमिंग्वे हेज नोट बिन एबल टु एनडो एनी अमेरिकन वुमन विथ इवन अ सिंगल लवेबल क्वालिटी." [39]

शैशवकालीन प्रभाव का महत्व किसी भी लेखक या कवि के

जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखता है । उस समय मस्तिष्क पर जो प्रभाव पड़ते हैं , वे सदा-सदा के लिए अंकित हो जाते हैं । प्रेमचन्दजी के "कर्मभूमि" नामक उपन्यास में उसके एक पात्र अमरकान्त के द्वारा कहलवाया गया है कि जिन्दगी की वह उम्र जब इन्सान को मुहब्बत की सबसे ज्यादा जरूरत होती है -- बचपन है , उस वक्त पौदे को तरी मिल जाय तो जिन्दगीभर के लिए उसकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं । उस वक्त खुराक न पाकर उसकी जिन्दगी खुश्क हो जाती है । मेरी माँ का उसी जमाने में देहान्त हुआ और तब से मेरी रूह को खुराक नहीं मिली । वही भूख मेरी जिन्दगी है । " [40]

यहाँ वस्तुतः अमरकान्त नहीं पर प्रेमचन्दजी की आत्मा बोल रही है , क्योंकि उनकी माँ का देहान्त भी उनके शैशवकाल में ही हुआ था । अतः प्यार की भूख का प्रेमचन्दजी जिन्दगी भर अनुभव करते रहे । "अलग्योझा" कहानी का प्रारंभ ही इन शब्दों से हुआ है -- " भोला मेहतो ने पहली स्त्री के मर जाने के बाद दूसरी सगाई की तो उसके लड़के रघु रग्घू के लिए बुरे दिन आ गये । रग्घू की उम्र उस समय केवल दस वर्ष की थी । चैन से गांव में गुल्ली-डंडा खेलता फिरता था । माँ के आते ही चक्की में जुतना पड़ा । " [41] यहाँ भी प्रेमचन्दजी की ही कसक रग्घू के रूप में उभर आयी है । हेमिंग्वे की भाँति प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में भी विमाताओं का जो कर्कश स्वरूप मिलता है , उसके पीछे उनके व्यक्तिगत जीवनानुभव कारणभूत हैं ।

शैशवकालीन अनुभव लेखक के लिए बड़े ही काम के होते हैं । वंश-परंपरा-सहज प्राप्त विशेषताएं , जातीय स्मृतियां और शैशव की स्मृतियाँ उसके अंतश्चित मानस में संचित होती हैं ।[42]

रोबर्ट लिडले ने इस संबंध में लिखा है -- " इट हेज बिन जनरली डिक्टेटेड टु हीम बाय हिज नेचर आर हिज अर्ली एनवायरोमेण्ट. द इम्पोर्टन्स आफ अर्ली एनवायरोमेण्ट इन डिटरमिनींग ए राइटर्स रेन्ज कुड बी पुस्ड ओवर एण्ड ओवर अगेइन . " [43]

अर्थात् अपने शैशव में हम जगत के प्रति अधिक उन्मुक्त रूप से संवेदनशील होते हैं और उस समय हम जो बोध प्राप्त करते हैं वह हमारे अचेतन में समा जाता है । प्रसिद्ध उपन्यासकार फ्रान्सिस मोराविया ने लिखा है कि — " ऑल माय नोवेल्स टेक प्लेस इन द पीरियड कन्टेम्परेरी विथ माय एडोलेसेण्ट एण्ड माय युथ. " 44 अर्थात् मेरे बहुत से उपन्यासों में मैंने किशोरावस्था एवं युवावस्था के अनुभवों को लेखन का आधार बनाया है । अतः शैशव से लेकर किशोरावस्था तक शिक्षा के लिए अथवा स्वाध्याय के लिए जो अध्ययन किया जाता है वह लेखक के अन्तर्मन का निर्माण औरविकास करता है और उसके सृजनात्मक व्यक्तित्व में उसका योग पूर्णतया होता है ।[45]

इटालियन लेखक आल्बर्ट मोराविये की अधिकांश शिक्षा शास्त्रीय प्रकार की रही थी ।[46] अतः उनकी महत्वाकांक्षा हास्यरस की कोई रचना देने की रहती थी । हास्य रस की जो कृतियां उन्हें अच्छी लगती थी , वे न केवल शास्त्रीय शिक्षा से दूर थी , प्रत्युत शास्त्रीय शिक्षा का उपहास भी करती थी । यह अक्सर देखने में आता है कि हमारा आकर्षण उन वस्तुओं की ओर अधिक होता है जिनसे हम वंचित रहते हैं । मोराविये हास्य की रचनाओं को इसलिए चाहते थे कि उन्हें निरंतर शास्त्रीय शिक्षा से जूझना पड़ा ।[47]

प्रेमचन्द का शैशवकालीन जीवन भी बड़ा संघर्षों में बीता । विमाता के त्रास के कारण नवाब का अधिकांश समय बाहर बितने लगा ।[48] इन दिनों के संबंध में प्रेमचन्द ने लिखा है कि उस अवस्था में ही बहुत-सी ऐसी बातें सीख लीं जो उस उम्र के बच्चों को नहीं सिखनी चाहिए । इस प्रकार घर-परिवार के कलह के कारण प्रेमचन्द का जीवन बरबाद पर चढ़ सकता था । अक्सर इस अवस्था के बच्चे पथभ्रष्ट हो जाते हैं , परंतु इन दिनों में नवाब को पढ़ने का चस्का लगा । वह एक नंबर का

पढ़ाकू बन गया । एक बुकसेलर की कुंजियाँ को बेचकर वह उससे पढ़ने के लिए मुफ्त में किताबें लेता था । पुराने किस्से-कहानियों की सारी किताबें, रामायण, महाभारत, पुराण, तिलस्मे होशरूबा जैसी किताबें नवाब ने अपने बचपन में ही पढ़ डाली थीं । उर्दू के रतननाथ सरशार को तो वे पूरी तरह से चाट गया था । और इन सबका प्रभाव प्रेमचन्द के लेखन में परिलक्षित होता हुआ दृष्टिगत होता है ।

सृजन और जीवनानुभव :

इस तथ्य को प्रायः सभी उपन्यासकार अंगीकृत करते हैं कि जीवन के अनुभवों का उनकी कलात्मक कृतियों पर गहरा असर होता है । उपन्यासकारों को जीवन और जगत का विस्तृत ज्ञान प्राप्त हो उसे आवश्यक माना गया है, परंतु प्रायः सभी उपन्यासकार इस बात पर विशेष तवज्जो देते हैं कि जीवन के ज्ञान और अनुभव का कलाकृति में यथातथ्य चित्रण नहीं होता, परंतु कल्पना-शक्ति द्वारा उसका रूपांतर हो जाता है । इस संबंध में आल्बर्ट मोराविया का यह कथन द्रष्टव्य है — " आई डु नोट टेक, एण्ड हेव नेवर टेकन आइदर एवन्स और केरेक्टर्स डायरेक्टली फ्रोम लाईफ. इवेण्ट्स मे सजेस्ट इवेण्ट्स, टु मी पुअड इन ए वर्क लेटर ; सिमिलरली, परसन्स मे सजेस्ट फ्यूचर केरेक्टर्स ; बट सजेस्ट इज द वर्ड, टु रीमेम्बर . × × × फोर द सायकोलोजी आफ माय केरेक्टर्स एण्ड फोर एवरी अधर आस्पेक्ट्स आफ माय वर्क आई ड्रो सोलली अपोन माय एक्सपिरिअन्स बट अण्डरस्टेण्ड, नेवर इन ए डोक्यूमेण्टरी, ए टेक्स्ट-बुक सेन्स ... आई इमेजिन्ड एवरीथिंग, आई इन्वेन्टेड एवरीथिंग . " [49]

इस प्रकार लेखक की सृजन-प्रक्रिया में जीवन के अनुभवों की आवश्यकता रहती है, परंतु ये अनुभव महज दस्तावेजी प्रकार के नहीं रहते । उनका पुनः सृजन होता है । यह रूपांतरण है । यह रूपांतरण अनुभवप्राप्त भिन्न-भिन्न तथ्यों में से ग्राह्य या अग्राह्य के तथ्य पर

ही सीमित नहीं रहता , वरन् उसमें लेखक की कल्पना-शक्ति से नवीन तथ्यों का मिश्रण और संकलन भी होता है । वास्तविक जीवन में देखे गये भिन्न-भिन्न ~~xxxxx~~ व्यक्तियों के कुछ तत्वों का उपन्यास के कुछ पात्रों में समावेश हो जाता है । उसी प्रकार किसी एक वास्तविक चरित्र के विभिन्न गुण उपन्यास के नाना पात्रों में आबंटित भी हो सकते हैं । ठीक यही बात हम घटनाओं तथा घटना के संदर्भ में भी कह सकते हैं । इस प्रकार उपन्यास की कच्ची सामग्री अनुभूत जीवन से उपलब्ध होती है । परंतु रचना में उसका समावेश कृति की आंतरिक ~~xxxxxx~~ आवश्यकता के अनुसार लेखक की अन्तर्दृष्टि द्वारा किया जाता है । इस संबंध में प्रसिद्ध उपन्यासकार एगन्स विल्सन ने एक महत्वपूर्ण टिप्पणी की है -- यह पूछे जाने पर कि क्या आपके पात्र निरीक्षण पर आधारित होते हैं , उन्होंने उत्तर दिया -- " भला और किस पर हो सकते हैं ? पर वे जीवन से नहीं लिए जाते । प्रत्येक पात्र हमारे देखे हुए नाना जनों का मिश्रण होता है । मेरे मन में पात्र तब उभरते हैं जब लोग मुझसे बातचीत करते हैं । मुझे लगता है यह स्वर मैंने कहीं सुना है । भिन्न भिन्न परिस्थितियों में और असत्य लगने का खतरा उठाकर भी मैं उसे थामे रहता हूं । अंत में वह किसी ऐसी व्यक्ति का स्मरण दिला देता है जिससे पहले मैं कभी मिला था । बैंकॉग दूतावास का द्वितीय सचिव मुझे आक्सफोर्ड के रसायनशास्त्र सहायक की याद दिला सकता है और तब मैं अपने आप से पूछता हूं कि उन ~~xxxxxx~~ दोनों में किन बातों की समानता है । ~~xxxx~~ ऐसे ही मिश्रणों से पात्रों का निर्माण मैं कर सकता हूं ।" [50]

प्रसिद्ध औपन्यासिक ई.एम. फारस्टर ने भी स्वीकार किया है कि वे अपने उपन्यासों में चरित्र-सृष्टि करते समय वास्तविक जीवन के चरित्रों का उपयोग करते हैं , परंतु उनकी हूबहू प्रतिकृति बनाना न तो उनका लक्ष्य है , न यह संभव ही है , क्योंकि व्यक्ति का वैशिष्ट्य अपने विशेष परिवेश के कारण होता है । जिसके बदलते ही व्यक्ति में भी परिवर्तन दिखाई देता है ।[51]

वास्तविक तथ्यों का संकलन कलाकार सदा सचेतन रूप से करता हो ऐसा नहीं है । कभी-कभी उसमें भी अचेतन और अनायासता का पुट मिल जाता है । इसका एक दृष्टांत बताते हुए जोयस केरी लिखते हैं — " अभी हाल में मुझे एक विचित्र अनुभव हुआ जिसने मुझे इस प्रक्रिया की एक झलक देदी — एक ऐसी झलक जिसका मुझे गुमान भी न था । मैं मेनहेटन का चक्कर लगा रहा था । .... मेनहेटन एक द्वीप है और मैं अपनी एक अमेरिकी मित्र , हार्पर के एलिजाबेथ लोरेन्स के साथ जहाज पर सवार था । तभी मैंने एक कन्या देखी जो डेक की दूसरी ओर बिल-कुल अकेली बैठी थी । उसकी उम्र तीस के लगभग थी और उसने एक ढीली-सी स्कर्ट पहन रखी थी । वह यात्रा का आनंद ले रही थी । उसके झुर्रीदार चेहरे पर — ढेरों झुर्रियोंवाले चेहरे पर बड़ा सुंदर भाव था । मैंने अपनी मित्र से कहा .. " मैं इस कन्या के विषय में लिखना चाहता हूं — तुम्हारा क्या ख्याल है , वह कौन है ? " एलिजाबेथ ने कहा कि शायद कोई अध्यापिका हो जो छुट्टियों पर जा रही है और पूछा कि मैं उसके बारे में क्यों लिखना चाहता हूं । मैंने कहा कि मुझे ठीक ठीक मालूम नहीं — मेरे ख्याल में वह संवेदनशील और मेधावी लड़की है जो जिंदगी से जूझ रही है । कठिन जीवन बिताते हुए भी उसमें आनंद पाती है । ... फिर मैं वह मामला भूल गया । इसके लगभग तीन हफ्ते बाद सेनफ्रांसिस्को में मैं एक दिन सवेरे चार बजे जाग पड़ा । मुझे एक कहानी सूझी थी । मैंने कहानी की रूपरेखा तुरंत बना डाली — इंग्लैण्ड में एक अंग्रेज लड़की की निराश अंग्रेजी कहानी । अगले दिन मैं अचानक खाली हो गया तो मैंने दिनभर में वह कहानी लिख डाली । कुछ दिन बाद हवाई जहाज में सफर करते समय मैंने उसका संशोधन किया तो सोचने लगा , इतनी झुर्रियां क्यों ? तीन तीन बार सुधार करने पर भी वे लौट आती हैं । और तब मैंने अचानक पहचाना कि वह अंग्रेज नायिका मेनहेटन जहाज पर सवार कन्या की प्रतिकृति थी । किसी अज्ञात रूप में वह मेरे अवचेतन में समा गई थी और अचानक एक सर्वांगपूर्ण कहानी में प्रकट हो गई । और मेरा ख्याल है , ऐसा पहले

भी हो चुका है । मैं व्यक्तियों पर ध्यान देने लगता हूँ क्योंकि वे जीवन के संबंध में मेरी क किसी-न-किसी भावना का अंकन करते हैं । " 52

इस प्रकार प्रत्येक उपन्यासकार को अपने चरित्रों में कुछ ऐसे दृष्टांत मिल सकते हैं जो अपनी कलाकृति में पहुँचकर एक नवीन और मिश्रित स्वरूप धारण कर लेते हैं । जिस प्रकार मनुष्य जो खाता है, उसका पाचन होता है, नवीन पोषक तत्वों में परिवर्तन होता है । मनुष्य जो खाता है, वही उत्सर्ग नहीं करता । उसी प्रकार कलाकार के में जीवनानुभव बिलकुल उसी रूप में नहीं आते, बल्कि उनमें कुछ परिवर्तन और संवर्द्धन होता है, क्योंकि जीवन और कला दो भिन्न और पृथक जगत है । तथापि किसी भी कलाकृति में कोई ऐसी स्थिति या घटना शायद ही मिलती है जिसके किसी अंश का लेखक ने अनुभव न किया हो । फ्लाबर्ट के अनुसार जिसका कभी अनुभव न किया हो उसकी अभिव्यक्ति कठिन है ।[53] परंतु उपन्यासकार या कथाकार इन जीवनानुभवों को अपने माध्यम से अंगीकृत करता है । दूसरे के मनोभावों और क्रियाकलापों को भी वह अपने अपनी आत्माभिव्यक्ति द्वारा ही समझने का यत्न करता है ।

पात्रों की भाँति कथानक के निर्माण में भी संकलन और चयन दृष्टिगत होता है । लेखक अपने समय की ज्ञात घटनाओं को प्रायः लेता है । परंतु ये घटनाएं भी जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है, कलागत आवश्यकता के अनुरूप गढ़-छिलकर सामने आती है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी चरित्र-विशेष पर ध्यान जाने से उससे संबंधित घटनाएं हमारे ध्यान में आती हैं । कभी-कभी तो किसी शब्द विशेष के कारण भी कोई घटना आकार लेती है । कमलेश्वर के उपन्यास "आगामी अतीत" में कमल बोस के मुंह से "बच्ची" शब्द के सुनते ही उसकी नायिका चाँदनी उस पर बरस पड़ती है और फिर फ्लैशबैक [पूर्वदीप्ति] के सहारे उस पूरी घटना का आलेखन हुआ है जिसके कारण चाँदनी को "बच्ची" शब्द

प्राप्त हो जाती है । इस प्रकार लेखक अपने जीवनानुभवों को अपने सृजन में लाता रहता है । ईशरवुड ने कहा है कि लेखक का मस्तिष्क एक कैमेरा की भांति होना चाहिए जो जीवन के विविध दृश्यों को सेल्यूलाईड पर उतारता रहता है । न जाने कब किसकी जरूरत पड़ जाए ।[54] प्रेमचन्द, नागार्जुन , रेणु जैसे कथाकारों में हम एक जीवन्त दृष्टि का अनुभव करते हैं । उसका कारण इन लेखकों के जीवनानुभवों की समृद्धि है । फ्लाबर्ट एक मित्र पत्नी की अन्त्येष्टि क्रिया में जाने से पूर्व एक मित्र को पत्र लिखते हैं कि शायद वहाँ मुझे मेरी बावरी के लिए कुछ मिल जाए — " परहेप्स आई शेल गेट समथिंग फोर माय बोवरी" ही रोट टु ए फ्रेण्ड बीफोर ही सेण्ट. "[55] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि फ्लाबर्ट ने इस महान कृति के एक-एक पृष्ठ नहीं , प्रत्युत एक-एक शब्द के लिए गहन जीवन-साधना की थी । ज्योर्ज इलियट ने अपनी मौसी के जीवन के एक प्रसंग को लेकर पूरे उपन्यास की रचना कर डाली थी ।[56] विख्यात फ्रान्सीसी लेखक आन्द्रे जिद समाचार पत्रों से आपराधिक घटनाओं की कतरनें काट लिया करते थे । एक बार दो विभिन्न घटनाओं के विवरणों को मिलाकर उन्होंने एक नये उपन्यास की रचना की थी ।[57]

प्रेमचन्द भी अपने "उपन्यास" नामक लेख में अपने समकालीन उपन्यासकारों को हमेशा अपने साथ एक डायरी और पेन्सिल रखने की हिदायत देते हैं ताकि अपने दैनंदिन जीवन के नाना अनुभवों को नोट कर सके । अपने परिचय में आने वाले लोगों का शाब्दिक कैरीकेचर भी संक्षेप में लिख लेना चाहिए ताकि कभी उसका उपयोग किया जा सके ।[58] संक्षेप में कहा जा सकता है कि लेखक को जो नाना जीवनानुभव होते हैं वे एक-दूसरे में मिलकर एक नये परिमाण को जन्म देते हैं । जिसके कारण किसी कलाकृति का निर्माण होता है । अतः लेखक का अनुभव जितना ही ज्यादा , जीवन से संपर्क जितना ही ज्यादा , लोगों से संपर्क जितना ही ज्यादा , उतने ही अधिक उसे जीवनानुभव प्राप्त होंगे और उसी अनुपात में वह एक रचनाकार के रूप में सफल होगा ।

ऊपर जिस जीवनानुभव की बात हुई है, उसी प्रतीति हम प्रेमचन्द के संदर्भ में भी परीक्षित कर सकते हैं। शैशवकालीन प्रभाव जीवन को बहुत गहराई तक प्रभावित करते हैं। शिशु के मन-दर्पण में जो भाव-छवियाँ अंकित होती हैं, उनका प्रभाव बड़ा चिर-स्थायी रहता है। प्रेमचन्द जब छः वर्ष के थे तब की एक स्मृति है कजाकी की, यह कजाकी एक डाक-हरकारा था। वह उन दिनों प्रेमचन्दजी के पिता के साथ आजमगढ़ की एक तहसील में रहता था। जात का पासी, पर बड़ा ही हसमुख, बड़ा ही जिन्दादिल और बड़ा ही साहसी व्यक्ति था। डाक का थैला एक तरफ रखकर वह ~~बच्चों~~ मैदान में बच्चों के साथ खेलने लगता था। वह बच्चों को बिरहे गाकर सुनाता था। कभी उन्हें कहानियाँ भी सुनाता था। वह नवाब को {प्रेमचन्द का बचपन का नाम नवाब था} बहुत ही प्यार करता था। अपने कंधों पर बिठाकर नवाब को घुमाता था। उसे चोरी और डाके की, मारपिट और भूतप्रेत की सैंकड़ों कहानियाँ याद थीं। उसकी कहानियों में चोर एवं डाकू सच्चे योद्धा बनकर आते थे, सो अमीरों को लूटकर दिन-दुःखी प्राणियों का पालन करते थे।[59]

प्रेमचन्द के उपन्यास और कहानियों की भावभूमि यहाँ से तैयार हो रही थी। चालीस वर्षों के बाद सन् 1926 में प्रेमचन्दजी ने कजाकी पर एक कहानी लिखी जो माधुरी के अप्रैल अंक में प्रकाशित हुई।[60] "वरदान" उपन्यास में उसकी नायिका विरजन के द्वारा वर्णित ग्रामीण लोगों की भूत-प्रेत संबंधी मान्यताओं का जो विशद वर्णन मिलता है, कदाचित् वह इन्हीं स्मृतियों पर आधारित है।

आठवें वर्ष में उनकी पढ़ाई शुरू हुई। ठीक वही पढ़ाई जिसका कायस्थ घरानों में चलन था, अर्थात् उर्दू-फारसी की पढ़ाई। उन्हीं दिनों की अठखेलियों का वर्णन प्रेमचन्दजी ने अपनी एक कहानी "चोरी" में खूब डूब-डूब कर किया है। "बड़े भाईसाहब" कहानी में भी लेखक ने उन पुरानी बाल-स्मृतियों का सुंदर भावचित्र किया है।

प्रेमचन्द के एक दूर के मामा थे । उनका विवाह नहीं हो रहा था । अतः चम्पा नामक एक चमारिन से उन्हें प्रेम हो जाता है । एक दिन चमारों द्वारा पकड़े जाने पर उनकी बहुत पिटाई हुई । नवाब ने इस घटना पर एक नाटक लिखा और उनके सिरहाने रख दिया । मामा ने वह नाटक शायद जला दिया होगा , परंतु उस दिन के बाद वे अपने बोरिया-बिस्तर लेकर चलते बने । बालक नवाब ने व्यंग्य की करारी चोट को कदाचित सर्वप्रथम पहचाना । बाद में इस शस्त्र का उपयोग वे अपने समग्र साहित्य में यत्र-तत्र करते पाये गए हैं । "गोदान" उपन्यास में सिलिया चमारिन और मातादीन के यौन-संबंधों का जो प्रसंग आया है , उसमें कदाचित इस पुरानी स्मृति का उपयोग हुआ है ।

तात्पर्य यह कि लेखक को जीवन-पर्यन्त जो नानाविध अनुभव होते रहते हैं उनका प्रतिबिंबन प्रतिबिंबन इनके साहित्य में कहीं-न-कहीं अवश्य होता है ।

प्रेमचन्द का जीवन : संक्षिप्त परिचय :

प्रेमचन्द का जीवन संघर्षों की एक अनवरत यात्रा है , जिस पर आगे विस्तारपूर्वक दूसरे अध्याय में विचार होगा । इस अध्याय में हम केवल उनके जीवन की कतिपय प्रमुख बातों को लेंगे ।

उनका जन्म बनारस से आजमगढ़ जाने वाली सड़क पर , लमही नामक गांव में , 31 जुलाई सन् 1980 में श्रीवास्तव कायस्थ परिवार में हुआ था । उनका जन्मपत्री का नाम धनपतराय था , परंतु चाचा-ताऊ का मुंहबोला नाम नवाबराय था , जिस नाम से बाद में लेखक ने अपने लेखकीय जीवन का प्रारंभ किया । उनके पिता मुंशी अजायबराय गीता और दूसरे शास्त्रों का पाठ तो करते थे , परंतु रस्मी तौर पर । कर्मों धर्मों पर उनका विश्वास नहीं था । वे प्रायः धर्म का मूल तो सदाचार है , धार्मिक अनुष्ठान आदि तो महज एक

ढकोसला है ।[61] पिता के संस्कार प्रेमचन्दजी को भी विरासत में मिले हुए लगते हैं, क्योंकि उनका भी धार्मिक अनुष्ठानों पर विश्वास नहीं था । इसे भी प्रकृति का एक व्यंग्य या भाग्य की विडंबना कहना चाहिए कि जो आगे चलकर आजीवन समाज की मुर्दा रूढ़ियों से जूझता रहा, उसका खुद का जन्म एक अंधश्रद्धा युक्त रूढ़ि की छाया में हुआ था । इस संदर्भ में अमृतराय ने "कलम का सिपाही" में लिखा है -- "लड़का खूब ही गोरा-चिट्टा था । सब बहुत खुश थे । पिता ने हुलस-कर उसका नाम रखा धनपत और ताऊ ने नवाब । बस एक बात खटक रही थी : लड़का तेतर था । यानी तीन लड़कियों की पीठ पर हुआ था और ऐसी संतान के बारे में लोगों का विश्वास है कि वह माँबाप में से किसी एक को खाये बिना नहीं रहती । " 62

प्रेमचन्द के शिशुकालीन प्रभावों में कजाकी नामक एक डाक हरकारा का प्रभाव सर्वाधिक रहा है । प्रेमचन्द के बचपन का एक अच्छा-खासा हिस्सा कजाकी की स्मृतियों से भरा हुआ है । वह नवाब को बहुत प्यार करता था और तरह-तरह की कहानियाँ सुनाया करता था । जीवन के आठवें वर्ष में उनकी पढ़ाई शुरू हुई । ठीक उसी वर्ष उनकी माता का निधन हो गया । माता की मृत्यु का उनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा । दो वर्ष बाद उनके पिता अजबराय ने दूसरा विवाह कर लिया । विमाता के कटु व्यवहार के कारण वे एकान्तप्रिय और अध्ययनशील स्वभाव के हो गये । अपना अधिकांश समय वे पढ़ने में बिताते थे । बुद्धिलाल नामक एक बुकसेलर की कुंजियाँ और नोट्स बेचकर उसके एवज में वे कुछ किताबें उससे माँगकर पढ़ते थे । विमाता का व्यवहार उनके प्रति कभी अच्छा नहीं रहा । सोलह वर्ष की छोटी आयु में विमाता के कहने पर उनके पिता ने उनकी शादी उनकी उम्र से कुछ ज्यादा बड़ी, काली, [illegible] भद्दी, चुलबुल, बेढंगी, अफीम खाने वाली और मटक-मटक कर चलनेवाली एक औरत से कर दी । यह विवाह उनके पिताने विशेषतः अपने ससुर की सलाह से किया था । इस बात को

लेकर बाद में उन्हें बहुत ही पछतावा हुआ पर लड़के की जिन्दगी तो तबाह हो ही गई। उसके दूसरे ही वर्ष सन् 1897 में अजायबराय बेटे धनपतराय के कंधों पर विमाता तथा दो सौतेले भाइयों का बोझ डालकर स्वर्ग सिधार गये।

ट्यूशन आदि करके सन् 1898 में मैट्रिक की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। परिवार का आर्थिक बोझ उनके कंधों पर आ जाने से सन् 1899 में मिशनस्कूल चुनारगढ में 18 रुपये मासिक वेतन पर अध्यापक की नौकरी से प्रारंभ किया। सन् 1900 में बहराइच स्कूल में उन्हें सरकारी नौकरी मिली। फिर वहाँ से प्रतापगढ़ तबादला हो गया। सन् 1902 में इलाहाबाद के गवर्नमेण्ट ट्रेनिंग स्कूल में दो वर्ष के लिए भर्ती हो गये। तभी सन् 1903 में नवाबराय "बनारसी" के नाम से उर्दू पत्रों में लिखना शुरू किया। बनारसी उर्दू पत्रिका "आवाज़े खल्क" में उनका "असरारे माबिद" नामक उपन्यास धारावाहिक रूप में छपा। सन् 1904 में प्रशिक्षण की समाप्ति पर उनकी नियुक्ति पुनः प्रतापगढ़ स्कूल में हुई। सन् 1905 में उनका तबादला कानपुर में हो गया। कानपुर के एक उर्दू मासिक "ज़माना" में उन्होंने लेख, कहानी इत्यादि लिखना शुरू किया। सन् 1906 में उनकी पत्नी ने आत्महत्या का असफल प्रयास किया। उसके बाद वह मैके चली गई तो फिर कभी नहीं आई। उसी वर्ष उनका उर्दू उपन्यास "कृष्णा" प्रकाशित हुआ, जिसमें अंग्रेजी शासन की खूब भर्त्सना की गई थी। सन् 1908 में उनका बहुचर्चित कहानी संग्रह "सोज़ेवतन" प्रकाशित हुआ, जिसकी सभी कापियाँ अंग्रेज अधिकारियों ने जला दीं और नवाबराय को अंग्रेज कलक्टर की खूब डाँट-फटकार सुननी पड़ी। फलतः नवाबराय नाम को छोड़कर उन्होंने सन् 1910 में "प्रेमचन्द" नाम से लिखना शुरू किया।

समाज एवं परिवार के काफी विरोध के बावजूद सन् 1909 में उन्होंने एक बाल-विधवा शिवरानी देवी से दूसरा विवाह करके अपने आचार-विचार की एकता को सामने सिद्ध किया। शिवरानी देवी और उनकी विमाता के बीच भी हमेशा कुछ-न-कुछ खींच-खिंच चलती

रहती थी । इस निरयुति के पारिवारिक कलह में भी प्रेमचन्द के स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव डाला है

सन् 1911 में कानपुर से एक उर्दू साप्ताहिक "आज़ाद" शुरू हुआ । प्रेमचन्द ने इसमें भी लिखना शुरू कर दिया । सन् 1912 में उनका उपन्यास "जलवा-ए-ईसार " प्रकाशित हुआ । बाद में यही उपन्यास सन् 1920 में "वरदान" नाम से हिन्दी में भी प्रकाशित हुआ । सन् 1913 में पुत्री कमला का जन्म हुआ । सन् 1915 में "प्रेमपचीसी" नामक उर्दू कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ । इसी वर्ष उन्होंने"सरस्वती " में भी लिखना प्रारंभ किया । इस इस प्रकार यदि देखा जाय तो प्रेमचन्द का हिन्दी में आविर्भाव सन् 1915 में ही हो गया था , न कि सन् 1918 से । यद्यपि हिन्दी में उनके नाम का सिक्का सन् 1918 से ही जमने लगा ।

प्रेमचन्दजी को इन वर्षों में कितना आर्थिक एवं पारिवारिक संघर्ष करना पड़ा इसका प्रमाण तो इस बात से ही मिल जाता है कि उन्होंने एफ.ए. की परीक्षा मैट्रिक के 18 साल बाद सन् 1916 में उत्तीर्ण की । इसी वर्ष उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीपतराय (धुन्नू) का जन्म हुआ । इसके दूसरे वर्ष उनके दो कहानी-संग्रह क्रमशः "सप्तसरोज" व "नवनिधि" प्रकाशित हुए । सन् 1918 में उनका सर्वप्रथम हिन्दी उपन्यास "सेवासदन" प्रकाशित हुआ , जिसने हिन्दी उपन्यास को एक नयी राह दी । इस दृष्टि से इस उपन्यास का बड़ा महत्त्व है । प्रेमचन्दजी की सूक्ष्म-दृष्टि , सामाजिक दृष्टि का , परिचय हमें इसी उपन्यास से मिलता है । डा. रामदरश मिश्र के शब्दों में "सेवासदन" उपन्यास कला और समस्याओं की पकड़ तथा चित्रण दोनों दृष्टियों से पहला परिपक्व उपन्यास है ।[63] डा. रामविलास शर्मा ने "सेवासदन" के संबंध में लिखा है — " " चन्द्रकान्ता " और तिलस्मिहोशरुबा" के पढ़ने वाले लाखों थे । प्रेमचन्द ने इन लाखों पाठकों को अपनी तरफ ही नहीं खींचा , बल्कि "चन्द्रकान्ता " में अरुचि भी पैदा की । जनरुचि के लिए उन्होंने नये मापदण्ड कायम किए और साहित्य में

नये पाठक और नयी पाठिकायें भी पैदा किए । यह उनकी जबरदस्त सफलता थी । " 64

सन् 1919 में उन्होंने बी.ए. की परीक्षा पास की । उसी वर्ष उनकी कहानियों का संग्रह "प्रेमपचीसी-2" तथा " प्रेम-पूर्णिमा" भी प्रकाशित हुए । उसी वर्ष उनके दूसरे पुत्र मन्नू का जन्म हुआ , परंतु एक ही वर्ष बाद सन् 1920 में उसकी मृत्यु हो गई । उसी वर्ष "प्रेम-बत्तीसी" का प्रकाशन हुआ । सन् 1921 में गांधीजी के असहयोग आंदोलन से प्रभावित होकर सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और लमही वापस आ गये । कुछ समय बाद कानपुर के एक हाईस्कूल में "हेडमास्टर" के रूप में नियुक्त हुए । वहीं पर उनके तीसरे बेटे बन्नू [अमृतराय] का जन्म हुआ । सन् 1922 में उन्होंने कानपुर के मारवाड़ी स्कूल की हेडमास्टरी से इस्तिफा दे दिया और काशी विद्यापीठ , बनारस द्वारा संचालित स्कूल में नौकरी करने लगे । इसी वर्ष उनके उपन्यास "प्रेमाश्रम" का प्रकाशन हुआ । डा. एस.एन. गणेशन के शब्दों में "भारत की सामान्य जनता के जागरण पर लिखित प्रथम हिन्दी उपन्यास के रूप में "प्रेमाश्रम " महत्वपूर्ण रचना है । " 65

सन् 1923 में उन्होंने सरस्वती प्रेस की स्थापना की । गांव में पक्का मकान बनवाया । "अहंकार" , "संग्राम" , "प्रेम-पचीसी" तथा "प्रेम-प्रसून" आदि का प्रकाशन इसी वर्ष हुआ । एक वर्ष बाद सन् 1924 में "कर्बला" तथा "मनमोदक" प्रकाशित हुए । प्रेस में घाटा जाने के कारण उन्हें लखनऊ के एक प्रकाशन "गंगा पुस्तक माला " के यहां नौकरी करनी पड़ी । सन् 1925 में "आजाद-कथा ," भाग-1 प्रकाशित हुआ । उसी वर्ष उनका बहुचर्चित उपन्यास "रंगभूमि" भी प्रकाशित हुआ । "चांद" में "निर्मला" उपन्यास धारावाहिक रूप में आ रहा था । इसी वर्ष वे पुनः बनारस आ गये । सन् 1926 में "आजाद-कथा" भाग-2 का प्रकाशन हुआ । साथ ही "प्रेम प्रतिमा" , "प्रेम द्वादशी" , "प्रेम-प्रमोद" आदि कहानी संग्रह भी प्रकाशित हुए । इसी वर्ष उनके उपन्यास "कायाकल्प"

का प्रकाशन हुआ । यह उपन्यास प्रेमचन्दजी की मुख्य साहित्य-चिंता से अलग हटा हुआ जान पड़ता है । रानी देवप्रिया और उनके पूर्व जन्म का वृत्तान्त किसी तिलस्मी कहानी से कम नहीं लगता । प्रेमचन्दजी जैसे प्रखर बुद्धिवादी की कलम से ऐसे उपन्यास का आना एक आश्चर्य की बात ही कहा जायेगा । डा. गणेशन ने इसका तर्क देते हुए लिखा है कि शायद भारत के हिन्दू समाज में प्रचलित अंधविश्वासों और मूढ़ परंपराओं को दिखाना ही प्रेमचन्दजी का ध्येय रहा हो ।[66] किन्तु ऐसे नितान्त कल्पना-प्रसूत और मायवी उपन्यास में भी प्रेमचन्दजी ने तत्कालीन समाज की एक ज्वलंत समस्या को चित्रित किया है । वह समस्या है हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की ।

सन् 1927 में उनका "प्रतिज्ञा" उपन्यास "चांद" में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होता है । इसी वर्ष उन्होंने "माधुरी" के सह-संपादक का पद ग्रहण किया और इसी वर्ष उन्हें "हिन्दुस्तानी एकेडेमी" की सदस्यता भी हासिल हुई । सन् 1928 में उन पर "मोटेराम शास्त्री" नामक कहानी के संबंध में मान-हानि का मुकदमा झेलना पड़ा जो बाद में खारिज हो गया । "प्रेमचतुर्थी" का प्रकाशन भी इसी वर्ष हुआ । इसी वर्ष में उनकी काफी पुस्तकें उर्दू में भी प्रकाशित हुई जिनमें "खाके परवाना" "ख्वाब-ओ-खयाल" और "फिरदोसे खयाल " आदि कहानी संग्रह ; "गोशा-ए-आफीयत" [प्रेमाश्रम का उर्दू संस्करण] , "चौगाने हस्ती" ग्रंथ ["रंगभूमि" का उर्दू संस्करण] आदि उपन्यास प्रमुख हैं । इसी वर्ष उनकी एक पुस्तक "आकमालों के दर्शन " नाम से प्रकाशित हुई थी जिसमें प्रेमचन्दजी ने कुछ संक्षिप्त जीवनियाँ लिखी थीं । बाद में इसीको "कलम त्याग और तलवार " के नाम से भी प्रकाशित किया गया ।

सन् 1929 में "पांच फूल" , "प्रेमतीर्थ" , "अग्नि समाधि" , सप्तसुमन" तथा "रामचर्चा " [उर्दू] आदि कहानी संग्रह तथा "निर्मला" और "प्रतिज्ञा" नामक उपन्यास प्रकाशित हुए । पहले ये उपन्यास "चांद" में धारावाहिक रूप में छपे थे ।

सन् 1930 में प्रेमचन्दजी ने "हंस" नामक साहित्यिक पत्रिका

का प्रारंभ किया । "प्रेमपंचमी" , "गल्परत्न" , "समर-यात्रा" , "चाँदी की डिबिया" , "न्याय" , "हड़ताल" आदि पुस्तकों का प्रकाशन भी इसी वर्ष हुआ । "प्रेमचालीसी" [कहानी-संग्रह] तथा "पर्दा-ए-मजाज" ["कायाकल्प" का उर्दू अनुवाद] भी इसी वर्ष प्रकाशित हुए । इसी वर्ष उनकी पत्नी शिवरानी देवी को स्वदेशी आंदोलन में दो महीने का कारावास हुआ ।

सन् 1931 में उन्होंने अपनी पुत्री कमला का विवाह संपन्न किया । उसी वर्ष "माधुरी" की नौकरी भी छोड़ दी । उनका "गबन" उपन्यास इसी वर्ष प्रकाशित हुआ । सन् 1932 में उन्होंने "हंस" के साथ "जागरण" पत्रिका का भी प्रकाशन किया । उनके बहुचर्चित उपन्यास "कर्मभूमि" का प्रकाशन भी उसी वर्ष हुआ ।

सन् 1933 में "प्रेरणा" , "प्रेम की वेदी" , "प्रेमतीर्थ" आदि का प्रकाशन हुआ । शिवरानीदेवी द्वारा प्रणीत उपन्यास "नारी हृदय" का प्रकाशन भी इसी वर्ष हुआ । "प्रतिज्ञा" का उर्दू रूपांतर "बेवाह" प्रकाशित हुआ । यह वही वर्ष है जिसमें प्रेमचन्दजी ने दिल्ली में आयोजित साहित्य सम्मेलन में सक्रिय हिस्सा लिया था ।

"हंस" और "जागरण" में घाटा जाने के कारण प्रेमचन्दजी ऋण-भार से बुरी तरह दब गये । अतः सन् 1934 में प्रेमचन्दजी फिल्म-नगरी बम्बई आये और वहाँ "अजन्टा सीनेटोन" में पटकथा लेखक और संवाद लेखक के रूप में काम किया । "कर्मभूमि" के उर्दू रूपांतर "मैदाने-अमल" का प्रकाशन भी इसी वर्ष हुआ । प्रेमचन्दजी का उर्दू जबान पर गजब का प्रभुत्व था और यह एक सर्वविदित तथ्य है कि फिल्म-लाइन में उर्दू लेखकों को खूब तरजीह दी जाती है । अतः प्रेमचन्दजी ने भी अपना एक स्थान बना लिया था । उन दिनों में उन्हें माहवार एक हजार रुपये मिल जाते थे ।[67] इतने रूपये प्रेमचन्दजी को अपने लेखन से कभी नहीं मिले । कोई दूसरा व्यक्ति होता तो इन स्थितियों में बम्बई का ही होकर रह जाता । परंतु प्रेमचन्द तो प्रेमचन्द थे । "हंस" और

"जागरण" से उत्पन्न घाटे की आपूर्ति होते ही वे पुनः बनारस लौट आये । यह घटना सन् 1935 की है । इसी वर्ष प्रेमचन्दजी ने "जागरण" को बन्द कर दिया और "हंस" को भारतीय साहित्य परिषद के सुपुर्द कर दिया । "मानसरोवर " भाग 1 का प्रकाशन भी इसी वर्ष हुआ ।

सन् 1936 में प्रेमचन्दजी ने [illegible] दिल्ली , लखनऊ , लाहौर, नागपुर आदि का दौरा किया और अनेक साहित्य-सभाओं में हिस्सा लिया । पर किसे पता था कि यह भी दीये के बुझने से पहले की लौ है । प्रेमचन्द के अध्येताओं के लिए यह वर्ष सदैव स्मरणीय रहेगा, क्योंकि यह वही वर्ष है , जब हिन्दी जगत को एक "रत्न" मिला और हिन्दी-जगत ने एक "हीरा" खोया । वह रत्न है "गोदान" और हीरा है प्रेमचन्द । प्रेमचन्दजी बुरी तरह से बीमार हुए । इलाज के लिए लखनऊ गये , परंतु प्रयत्न असफल रहा । पुनः बनारस लौट आये । उन्हीं दिनों में "हंस" पर सरकार की ओर से जुर्माना हुआ । अतः भारतीय परिषद ने उसे बन्द करने का निर्णय कर लिया । इस बात से प्रेमचन्दजी को मर्मान्तक पीड़ा हुई , क्योंकि "हंस" को वे अपना "तीसरा बेटा" मानते थे । बीमारी के दिनों में भी शिवरानी देवी द्वारा पैसों का जैसे-तैसे प्रबन्ध करवाकर उन्होंने "हंस" की जमानत जमा की ।[60] प्रेमचन्दजी की तबियत निरंतर बिगड़ती ही गई । जैनेन्द्रजी को बुलाया गया । 7 अक्तूबर , 1936 की रात को [illegible] जैनेन्द्रजी के साथ अंतिम साहित्यिक-चर्चा की और 8 अक्तूबर को प्रातःकाल उनका प्राण-पखेरू उड़ गया ।

इस प्रकार सन् 1903 से प्रारंभित प्रेमचन्दजी की लेखन-यात्रा निरंतर 33 वर्षों तक अविराम चलती रही । इस बीच उनका लेखन , उनकी विचारधारा [illegible] विकसित होते [illegible] रहे । मेहनत और लगन और परिश्रम के कारण वे "कलम के मजदूर" कहलाये , तो दूसरी ओर अपनी कलम से समाज की मुर्दा रूढ़ियों के खिलाफ , सामंती और बुर्जुआ ताकतों के खिलाफ लड़ते रहे , अतः "कलम के सिपाही" भी कहलाये । परन्तु हिन्दी में वे "कलम के बादशाह " के रूप में उनके

अध्येताओं और प्रेमियों के बीच जाने जाते रहेंगे ।

आलोच्य विषय-सीमा से सम्बद्ध प्रेमचन्द का कथा-साहित्य :

कथा-साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास तथा कहानी का समावेश होगा । अतः यहाँ प्रेमचन्द की एक समग्र सूची देने का उपक्रम है ।

(क) उपन्यास

(1) प्रेमा (इण्डियन प्रेस इलाहाबाद) – 1907 । यह उपन्यास उर्दू में "हम-खुर्मा-ओ-हम-सवाब" के नाम से सन् 1906 में प्रकाशित हुआ था ।

(2) सेवासदन – सन् 1918 । यह उपन्यास पहले उर्दू में "बाज़ारे हुस्न" नाम से लिखा गया था, परन्तु प्रकाशित पहले हिन्दी में हुआ । उर्दू संस्करण का प्रकाशन बाद में हुआ ।

(3) वरदान (ग्रंथ भंडार, बम्बई) – 1920 । मूल उपन्यास "जलवा-ए-ईसार" के नाम से इण्डियन प्रेस इलाहाबाद से सन् 1912 में प्रकाशित हुआ था ।

(4) प्रेमाश्रम – 1922 । मूल उपन्यास "गोशा-ए-आफ़ियत" के नाम से पहले उर्दू में लिखा गया था, परंतु उसका प्रकाशन सन् 1928 में हुआ ।

(5) रंगभूमि (गंगा पुस्तक माला) – 1925 । यह उपन्यास भी पहले "चौगाने-हस्ती" नाम से उर्दू में लिखा गया था, जिसका प्रकाशन सन् 1928 में हुआ ।

(6) कायाकल्प (सरस्वती प्रेस) – 1926 । यह उपन्यास पहले हिन्दी में ही लिखा गया । बाद में उसका उर्दू संस्करण "पर्दा-ए-मजाज़" नाम से 1932 में प्रकाशित हुआ ।

(7) निर्मला (चाँद प्रेस, इलाहाबाद) – 1926 । यह 1925 में "चाँद" नामक पत्रिका में धारावाहिक के रूप में प्रकाशित हो चुका था ।

§8§ प्रतिज्ञा §चाँद प्रेस § – 1929 । यह उपन्यास भी पहले "चाँद" में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था । यह उनके प्रथम उपन्यास "प्रेमा" के आधार पर लिखा गया है । उर्दू में यह "बेवाह" के नाम से प्रकाशित हुआ है ।

§9§ गबन §सरस्वती प्रेस – 1930 ।

§10§ कर्मभूमि § सरस्वती प्रेस § – 1932 ।

§11§ गोदान § सरस्वती प्रेस § – 1936 ।

इनके अतिरिक्त "असरारे मआबिद " 1903 में धारावाहिक रूप में साप्ताहिक " आवाज़े खल्क़ " में प्रकाशित हुआ था , जिसका हिन्दी संस्करण "मंगलाचरण" नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था । "किशना" उर्दू में 1907 में प्रकाशित हुआ था । इसकी कोई प्रति अब उपलब्ध नहीं है । "मंगलसूत्र" §अधूरा उपन्यास § प्रेमचन्द के निधन के कई वर्ष बाद प्रकाशित हुआ ।[69]

§ब§ कहानी

§1§ सप्तसरोज /हिन्दी पुस्तक एजेन्सी / – 1917

§2§ नवनिधि / हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर / – बम्बई – 1917

§3§ प्रेम-पूर्णिमा § हिन्दी पुस्तक एजेन्सी / – 1918

§4§ प्रेमपचीसी / हिन्दी पुस्तक एजेन्सी / – 1923

§5§ प्रेम प्रसून / गंगा पुस्तक माला / – 1925

§6§ प्रेम द्वादशी / गंगा पुस्तक माला / – 1926

§7§ प्रेम प्रतिमा / गंगा पुस्तक माला / – 1926

§8§ प्रेम प्रमोद / चाँद कार्यालय / – 1926

§9§ प्रेम चतुर्थी / सरस्वती प्रेस / – 1928

§10§ पाँच फूल / सरस्वती प्रेस / – 1929

§11§ प्रेमतीर्थ /सरस्वती प्रेस / – 1929

§12§ समरयात्रा / सरस्वती प्रेस / – 1930

[13] प्रेरणा / सरस्वती प्रेस / – 1933

[14] मान सरोवर , भाग-1 [सरस्वती प्रेस] – 1935

परन्तु अब प्रेमचन्दजी की दस-बारह कहानियों को छोड़कर प्रायः सभी कहानियाँ मानसरोवर भाग 1 से 8 तथा "कफन" एवं "गुप्तधन" [भाग 1-2] कहानी संग्रहों में संकलित हैं । अतः इस शोध-कार्य में कहानी के संबंध में बात करते हुए अधिकांशतः "मानसरोवर" भाग 1 से 8 को ही आधार बनाया गया है । उपन्यास और कहानी के अतिरिक्त प्रेमचन्दजी ने नाटक , अनुवाद , जीवनीपरक साहित्य आदि पर भी काम किया है ; परंतु चूंकि हमारा विषय केवल "कथा-साहित्य" तक सीमित है , अतः हमने केवल उपन्यास और कहानी तक ही स्वयं को महदूद रखा है ।

अध्याय के समग्रावलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक सहजतया पहुंच सकते हैं —

[1] हिन्दी साहित्य के उन्नयन में प्रेमचन्दजी की प्रतिभुतता अद्वितीय है । अपने समृद्ध कृतित्व के द्वारा वे इसके प्रति कृत-संकल्प हैं ।

[2] प्रेमचन्द केवल एक कृती लेखक ही नहीं , अपितु एक युग-निर्माता भी है , क्योंकि उन्होंने न केवल हिन्दी उपन्यास-कथा साहित्य को एक गरिमा प्रदान की है । प्रत्युत अनेक लेखकों को प्रोत्साहित करके , उचित मार्गदर्शन करते हुए , उन्हें हिन्दी-जगत में स्थापित भी किया है । ध्यान रहे यह कार्य उन्होंने आर्थिक अभावों से जूझते हुए और बिना किसी संस्था की सहायता के किया है ।

[3] प्रेमचन्द-साहित्य में युगीन बोध का तत्त्व इस सीमा तक निहित है कि तत्कालीन सामाजिक , राजनीतिक , धार्मिक स्थितियों के अध्ययन के लिए उनका साहित्य सामग्री [सोर्सेस] के रूप में भविष्य में काम आ सकता है ।

[4] तत्कालीन सामाजिक , राजनीतिक आंदोलनों से प्रेम-चन्दजी का साहित्य अनुप्राणित है , तथा आर्यसमाज का उन पर

विशेष प्रभाव है ।

§5§ लेखक के वैयक्तिक जीवन-संघर्ष का प्रभाव उसके कथा-साहित्य में दृष्टिगत किया जा सकता है ।

§6§ किसी भी लेखक के लेखन में शैशवकालीन प्रभाव का सविशेष महत्व होता है । प्रेमचन्दजी के संदर्भ में भी इस तथ्य को रेखांकित किया जा सकता है ।

§7§ कथा-साहित्य के लेखन में विभिन्न जीवनानुभवों का विशेष महत्व है । जिस लेखक के पास अनुभव की यह पूंजी जितनी ही ज्यादा होगी , उसका सृजन उतना ही जीवन्त एवं जीवन की नयी क्षितिजों का उद्घाटक होगा ।

§8§ प्रेमचन्दजी का जीवन संघर्षों की एक अनवरत यात्रा के समान है । संघर्ष की इस तपिश ने उनके साहित्य के कुंदन को और भी चमकाया है ।

§9§ प्रेमचन्दजी को नौकरी तथा व्यवसाय के सिलसिले में निरंतर भटकना पड़ा है । इसके कारण जहां एक ओर उनका स्वास्थ्य गिरा है , वहां दूसरी ओर उनके जीवनानुभवों की समृद्धि निरंतर बढ़ती रही है ।

:: संदर्भिका ::

§1§ द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास का अध्ययन : डा. एस.एन. गणेशन :पृ.58 ।

§2§ द्रष्टव्य : हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त सुगम इतिहास : डा. पारूकांत देसाई : पृ. 60 ।

§3§ द्रष्टव्य : युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : डा. पारूकांत देसाई : पृ. 2 ।

§4§ द्रष्टव्य : "प्रेमचन्द : एक कृती व्यक्तित्व " : जैनेन्द्र

§5§ कलम का मजदूर : मदनगोपाल : पृ. 324 ।

§6§ कलम का सिपाही : अमृतराय : पृ. 591 ।

§7§ द्रष्टव्य : " उभरी गहरी रेखाएं " : सं. कैलाशचन्द्र भाटिया : संस्मरण - लेख : "मेरे पिता " : अमृतराय ।

§8§ "रैन-बसेरा " : गुजरात हिन्दी विद्यापीठ की मुख-पत्रिका :अप्रा. 95 ।

§9§ देखिए : "प्रेमचन्द और गोर्की " : सं. शचिरानी गुर्टू ।

§10§ यहाँ यह तथ्य ध्यातव्य है कि उस दिनों 400/- की रकम भी बहुत बड़ी समझी जाती थी ।

§11§ "प्रेमचन्द : व्यक्ति और साहित्यकार " : मन्मथनाथ गुप्तः पृ. 120 ।

§12§ "हिन्दीवालों के पास यही तो एक हीरा था , जिसे भी वे संभाल नहीं पाये । " : उग्र द्वारा : अमृतराय : कलम का सिपाही : पृ. 652 ।

§13§ "हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य " : अज्ञेय : पृ. 96 ।

§14§ कलम का सिपाही : पृ. 385 ।

§15§ कलम का मजदूर : पृ. 207 ।

§16§ प्रेमचन्द और गोर्की : सं. शचिरानी गुर्टू : पृ. 68 ।

§17§ द्रष्टव्य : युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : पृ. 2 ।

§18§ द्रष्टव्य : वही : पृ.2 ।

§19§ द्रष्टव्य : " हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास " : डा. सुरेश सिन्हा : पृ. 138 ।

§20§ बंगला उपन्यासकार बंकिमचन्द्र के उपन्यास "आनंदमठ" में इस गीत को सर्वप्रथम प्रकाशित किया गया था , जो बादमें क्रांतिकारियों का राष्ट्रगान बन गया था ।

§21§ गुजराती के राष्ट्रीय शायर झवेरचंद मेघाणी के गीत की पंक्तियाँ ।

§22§ सेवासदन : प्रेमचन्द : पृ. 120 ।

§23§ बाद में स्वाधीनता के उपरांत राष्ट्रीय धारा के कवि माखनलाल चतुर्वेदीजी ने इसी प्रसंग को लेकर अपने स्वातंत्र्योत्तर मोहभंग को एक व्यंग्य-काव्य में चित्रित किया था — " उनकी पावों के तृण-तृण-पल्लव / जो आज तो हम छोड़ चले / कलमें रावी के तट वाली यमुना के तट पर तोड़ चले । "

§24§ "हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग " : पृ. 51 ।

§25§ हिन्दी उपन्यास में मध्यवर्ग : पृ. 19 ।

§26§ हिन्दी उपन्यास का विकास और मध्यवर्गीय चेतना : डा. बीना श्रीवास्तव : पृ. 39 ।

§27§ मुक्तिबोध रचनावली : भारतीय इतिहास और संस्कृति : पृ. 550 ।

§28§ इण्डियन इकोनोमी : पृ. 61 ।

§29§ संस्कृति के चार अध्याय : पृ. 546 ।

§30§ मोडर्न रीलिजियस मूवमेण्ट्स इन इण्डिया : पृ. 5 ।

§31§ "हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना " : पृ. 33 ।

§32§ मोडर्न हिस्टरी आफ इण्डिया : डा. मनमोहन गुप्ता : पृ. 27 ।

§33§ सत्यार्थप्रकाश : आठवाँ समुल्लास : पृ. 154 ।

§34§ द्रष्टव्य : "हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना " : पृ. 34 ।

§35§ सी , टाईम्स आफ इण्डिया : 10-6-96 : पृ. 3 ।

§36§ नवभारत टाईम्स : 10-7-92 : पृ. 4 ।

§37§ त्यागपत्र : जैनेन्द्र : पृ. 40 ।

§38§ हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य : पृ. 96 ।

§39§ "हेमिंग्वे : ओल्ड मेन एण्ड द सी " : डा. आर.टी. जैन : पृ. 17 ।

§40§ उद्धृत द्वारा : डा. पारूकांत देसाई : "युगाभिमुखी प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : पृ. 6 ।

§41§ अग्योगा : कहानी : मानसरोवर भाग-1 : पृ. 1[illegible] ।
§42§ हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डा. [illegible] :
पृ. 70 ।
§43§ द ट्रिटाईज आन द नोवेल : रोबर्ट लिडले : पृ. 43 ।
§44§ वही : पृ. 39 ।
§45§ तुलनीय : " वोट यु रीड इन एडोलसेण्ट केन गो वेरी डीप. " :
एन्गुस विल्सन : द ट्रिटाईज आन द नोवेल : पृ. 233 ।
§46§ " माय लिटररी एज्युकेशन वज टु विल हेव बिन माय माउ , हेव बिन फोर द मोस्ट पार्ट क्लासिकल ग्रीक एण्ड ड्रामा. " वही:पृ.198 ।
§47§ " आई हेव आलवेज प्रीफर्ड कोमिक बुक्स टु ट्रेजिक बुक्स. माय ग्रेट एम्बीशन इज टु राईट ए कोमिक बुक , बट एज यु नो बट इज द मोस्ट डिफिकल्ट थिंग आफ ओल हाउ मेनी आर धीज ? हाउ मेनी यु केन नेम ? नोट मेनी ? डोन क्विक्जोट , पैमिला , द पिकविक पेपर्स , द गोल्डन एस , द तोमेडुस आफ केनी , गोगोल्स डेड साउल , बोकेसियो एण्ड द डेकामरोन लिटरायरीकल , धीज आर माय आइडियल्स बुक्स. " : वही : 198 ।
§48§ प्रेमचन्द को उनके चाचा-ताऊ "नवाब" कहते थे और प्रेमचन्द ने पहले उर्दू में "नवाबराय" नाम से ही लिखना शुरू किया था ।
§49§ राईटर्स एट वर्क : फर्स्ट सीरिज : पृ. 191-195 ।
§50§ द्रष्टव्य : राईटर्स एट वर्क : फर्स्ट सीरिज : पृ. 233 ।
§51§ वही : पृ. 30-31 ।
§52§ हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ. 60 ।
§53§ करेसपोण्डेंस : पृ. 149 ।
§54§ द्रष्टव्य : "हिन्दी उपन्यास की विकास परंपरा में साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास " : प्रबन्ध : डा. पारुकांत देसाई : पृ. ।
§55§ द नोवेल एण्ड द पिपुल : राल्फ फोक्स : 35 ।
§56§ द ट्रिटाईज आन द नोवेल : पृ. 80 ।
§57§ वही : पृ. 79 ।

HANSA MEHTA LIBRARY
M. S. University of Baroda

§58§ "कुछ विचार : प्रेमचन्द " : पृ. ।

§59§ द्रष्टव्य : कलम का सिपाही : अमृतराय : पृ. 14 ।

§60§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 650 ।

§61§ वही : पृ. 10 ।

§62§ वही : पृ. 11 ।

§63§ "हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा " : डा. रामदरश मिश्र : पृ. 44 ।

§64§ प्रेमचन्द और उनका युग : डा. रामविलास शर्मा : पृ. 31 ।

§65§ हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डा. एस. एन. गणेशन : पृ. 61 ।

§66§ वही : पृ. 68 ।

§67§ द्रष्टव्य : " उभरी गहरी रेखाएं " : सं. कैलाशचन्द्र भाटिया : लेख– अमृतराय :- "मेरे पिता " ।

§68§ द्रष्टव्य : कलम का मजदूर : मदनगोपाल : पृ. 324 ।

§69§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 332–335 ।

=======XXXXX======